हमारे साहित्य-निर्म्माता

(Recommended as Supplementary reading book for
High School Examination U. P.)

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

हमारे साहित्य-

लेखक
श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी
[संयुक्त सम्पादक 'कमला']

इस प्रकार की पुस्तकें मिलने का पता
गंगा ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड, लखनऊ

प्रकाशक
ग्रन्थमाला-कार्यालय, बाँकीपुर

कालाकाँकर (अवध) के साहित्यिक राजकुमार

वन्धुवर कुँवर सुरेशसिंह

के

कर-कमलों

में

निर्देश

निवेदन

इस पुस्तक का पहला संस्करण सम्वत् १९९१ में प्रकाशित हुआ था। उन दिनों की स्मृतियों को मैं भूल नहीं सकता। यह तीसरा संस्करण है। इस संस्करण में मैंने यथास्थान कुछ आवश्यक परिमार्जन भी कर दिये हैं। आशा है, पाठकों को यह संस्करण अन्य संस्करणों से अधिक रुचिकर होगा। इतिशुभ।

काशी.
गुरुवार, १४ मार्च, १९४० —लेखक

महावीर प्रसाद द्विवेदी

भारतेन्दु कर गये भारती की वीणा निर्माण,
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर-सन्धान,
निश्चय, उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण-झंकार
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार!

—पन्त

संवत् १६२१ में रायबरेली के दौलतपुर गाँव के एक प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज कुल में एक बालक का जन्म हुआ। जन्म के आधे घण्टे बाद एक सुविज्ञ ज्योतिषी ने बालक की जिह्वा पर सरस्वती का बीज-मन्त्र लिख दिया,—यही उस बालक के लिये वीणा-पाणि सरस्वती की सेवा और कृपा प्राप्त करने का आशीर्वाद था। यह आशीर्वाद सचमुच सफल हुआ।

जन्म के प्रायः ४० वर्ष बाद, उसी बालक ने अपने प्रौढ़ हाथों से 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका का इतना सुन्दर सम्पादन किया कि उसके द्वारा हिन्दी-साहित्य में एक नवीन जीवन का सञ्चार हो गया। उसीके उद्योग से नये-नये लेखक और कवि उत्पन्न हुए, और नये-नये गूढ़ गंभीर विषयों की चर्चा छिड़ी। हिन्दी-साहित्य के गद्य और पद्य की धारा एक ऐसी दिशा की

ओर वह चली, जहाँ से वह पीछे की ओर नहीं मुड़ सकती; बल्कि उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ती जायगी। यह सब कुछ एक ब्राह्मण की अथक तपस्या का फल है। आज उसे तपस्या करते ७० वर्ष बीत चले। वे ही वृद्ध तपस्वी, हमारे हिन्दी-साहित्य के पूज्य आचार्य्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी हैं।

हम लोगों को यदि किसी अच्छे पुस्तकालय में जाने का सुअवसर मिले तो वहाँ 'सरस्वती' की पुरानी फाइलें अवश्य देखें। यह सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका सन् १९०० में निकली थी। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के जन्मदाता मान्यवर बाबू श्याम-सुन्दर दास के प्रोत्साहन से स्वर्गीय बाबू चिन्तामणि घोष ने इस पत्रिका को जन्म दिया था। उस समय इसके ये पाँच सम्पादक थे—(१) बाबू श्यामसुन्दर दास (२) स्व० बा० राधाकृष्ण दास (३) स्व० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (४) स्व० कार्तिक-प्रसाद खत्री (५) स्व० किशोरीलाल गोस्वामी। आचार्य्य द्विवेदीजी तब तक इसके सम्पादकीय मंडल में नहीं आ सके थे। क्योंकि उस समय वे एक दूसरे ही क्षेत्र में काम कर रहे थे।

बचपन मे स्कूल की शिक्षा प्राप्त करने के बाद ये अपने पिता के पास बम्बई चले गये। बम्बई में ही इन्होंने गुजराती और मराठी सीखी तथा अंग्रेजी ज्ञान की अभिवृद्धि की। इसके बाद द्विवेदीजी ने रेलवे में नौकरी कर ली। इसी क्षेत्र में काम करते हुए इन्होंने समय-समय पर बम्बई, नागपुर, अजमेर और झाँसी में निवास किया था। झाँसी में बंगालियों के साहचर्य्य से

द्विवेदीजी ने बंगला सीखी और वहीं संस्कृत काव्य और अलङ्कार-शास्त्र का भलीभाँति अध्ययन किया। इसी भाँति नौकरी करते हुए भी ये अध्ययन करते जाते थे। इन्होंने जो कुछ सीखा और समझा, वह केवल स्वाध्याय और स्वावलम्बन से। जहाँ-जहाँ गये कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करते रहे। अंग्रेजी, बङ्गला, गुजराती, मराठी और संस्कृत का ज्ञान तो प्राप्त कर ही लिया, इसके अतिरिक्त स्कूल में पढ़ते समय फारसी की शिक्षा भी बचपन में ही पायी थी।

बम्बई में रेलवे का काम करते समय द्विवेदीजी ने तार का काम सीखा था। झाँसी आने पर उन्होंने तार-सम्बन्धी एक पुस्तक अँग्रेजी में लिखी और नयी तरह से लाइन-क्लियर ईजाद करने में अपनी अद्‍भुत योग्यता दिखायी। उस समय भला यह कौन जानता था कि एक दिन ये हिन्दी साहित्य में भी नयी तरह से लाइन-क्लियर ईजाद करके सदैव के लिये अपने भक्तों के हृदय में बस जायँगे।

परन्तु, इसके लिये बहुत दिनों तक हिन्दी संसार को प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। रेलवे में द्विवेदीजी का साहित्यमय हृदय बहुत दिनों तक उलझा न रह सका, निदान वह नौकरी उन्होंने छोड़ दी।

रेलवे की नौकरी करते समय ही द्विवेदीजी ने भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कुछ आलोचनात्मक लेख लिखे थे जिनके कारण हिन्दी-संसार का ध्यान इनकी ओर आकर्षित हो गया था। अतएव 'सरस्वती' के संचालक स्व० घोष बाबू ने इन्हें अपने यहाँ

बुला लिया और एकमात्र इन्हें ही सरस्वती का सम्पूर्ण सम्पादन कार्य्य सौंप दिया। यह सन् १६०३ की बात है। बस, यहीं से हिन्दी-साहित्य के नवीन इतिहास का प्रारम्भ होता है। द्विवेदीजी के इसी सम्पादन-काल को हमलोग 'द्विवेदी-युग' कहते हैं।

इस युग मे द्विवेदीजी ने हिन्दी के गद्य-पद्य का अपने ढंग से परिष्कार किया। उनके पहले हमारे गद्य की भाषा ऊबड़-खाबड़ थी। उसमे कोई नियमित परिपाटी नहीं थी और न उसका कोई साहित्यिक स्टैंडर्ड था। कुछ लोग उर्दू मिली हुई हिन्दी लिखते थे, कुछ लोग सस्कृत से भरी हुई। और, कुछ लोग ठेठ हिन्दी के पक्ष मे थे। ऐसी दशा मे हमारी राष्ट्रभाषा का कोई निश्चित स्वरूप नहीं था। द्विवेदीजी ने इस बात की चेष्टा की कि भाषा अप-टू-डेट और सीधी-सादी हो और सब तरह के भावों और विचारों को प्रकट करने मे समर्थ हो। इसी नीति को सामने रखकर उन्होंने हिन्दी के गद्य-पद्य को अपने मस्तिष्क के साँचे मे ढालकर सुन्दर सुडौल बना दिया। यद्यपि उस समय उनकी नीति और शैली के सम्बन्ध मे बहुत वाद-विवाद हुए थे, परन्तु अन्त में द्विवेदीजी की ही शैली लोकप्रिय हो गयी। यह उनके आत्मबल का सुफल है। आज हम अपनी पुस्तकों में हिन्दी की जैसी भाषा पढ़ते हैं, वह द्विवेदीजी के श्रम-विन्दुओं से सिंचित होकर खिली और फली-फूली है।

द्विवेदीजी के कार्य्य-कलाप पर पं० रामचन्द्र शुक्ल अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं—

"सरस्वती का सम्पादन-काल ही उनके जीवन में सबसे अधिक साहित्यिक श्रम का समय रहा। छोटी-बड़ी बहुत-सी उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकर लेख भी बहुत लिखे। पर, इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही हैं। भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार के साथ नये-नये विचारों की उद्भावनावाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं। स्थायी निबंधों की श्रेणी में आनेवाले दो ही चार लेख, जैसे 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि मिलते हैं। पर, ये लेखन-कला या साहित्यिक विमर्श की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते।

.....द्विवेदीजी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों ❀ के लिये लिख रहा है : एक-एक सीधी बात कुछ हेर-फेर—कहीं-कहीं केवल शब्दों के ही—के साथ पाँच-छ तरह से पाँच-छ वाक्यों में कही हुई मिलती है। उनकी यही प्रवृत्ति उनकी गद्य-शैली निर्धारित करती है। उनके लेखों में छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग बहुत मिलता है। नपे-तुले वाक्य को कई बार शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ कहने का ढंग वही है जो वाद या संवाद में बहुत शांत होकर समझाने-

---

❀ यह बात उस समय के पाठकों की स्थिति को सूचित करती है। द्विवेदीजी को अपने युग का आरंभ सच पूछिये तो 'ककहरा' से ही शुरू करना पड़ा है।—ले०

बुझाने के काम मे लाया जाता है। † उनकी यह व्यास-शैली विपक्षी को कायल करने के प्रयत्न मे बड़े काम की है।

व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्त्तक द्विवेदजी ही हैं। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप मे उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सतर्क कर दिया।

द्विवेदीजी कुछ दिनो तक बम्बई की ओर रहे थे, जहाँ मराठी के साहित्य से उनका परिचय हुआ। उसके साहित्य का प्रभाव उनपर बहुत-कुछ पड़ा। मराठी कविता में अधिकतर संस्कृत के वृत्तो का व्यवहार होता है। पद विन्यास भी प्राय गद्य का-सा ही रहता है। व्रजभाषा की-सी कोमल कान्त-पदावली उसमे नहीं पायी जाती। इसी मराठी के नमूने पर द्विवेदीजी ने हिन्दी मे पद्य-रचना शुरू की। पहले तो उन्होंने व्रजभाषा का ही अवलम्बन किया। पीछे आपने व्रजभाषा एकदम छोड़ ही दी और खड़ी बोली मे ही काव्य-रचना करने लगे।

मराठी का सस्कार तो था ही, पीछे जान पड़ता है, उनके मन मे 'वर्ड्सवर्थ' का वह पुराना सिद्धान्त भी कुछ जम गया था कि "*गद्य और पद्य का पद विन्यास एक ही प्रकार का होना* चाहिये।" पर, यह प्रसिद्ध बात है कि वर्ड्सवर्थ का वह सिद्धान्त असगत सिद्ध हुआ था और वह आप अपनी उत्कृष्ट कविताओं मे

---

† उस समय नई पद्धति के प्रवर्त्तन के कारण वाद-विवाद का जोर भी बहुत था।—ले०

उसका पालन न कर सका था। द्विवेदीजी ने भी बराबर उक्त सिद्धान्त के अनुकूल रचना नहीं की है। अपनी कविताओं के बीच-बीच में सानुप्रास कोमलपदावली का व्यवहार उन्होंने किया है।.....पर, उनका जोर इस बात पर रहता था कि कविता बोलचाल की भाषा में होनी चाहिये। बोलचाल से उनका मतलब ठेठ या हिन्दुस्तानी का नहीं रहता था, गद्य की व्यावहारिक भाषा का रहता था। परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा बहुत अधिक गद्यवत् (Prosaic) हो गयी।..उनकी अधिकतर कविताएँ इतिवृत्तात्मक (Matter of Fact) हुईं। उनमें वह लाक्षणिकता, वह मूर्तिमत्ता और वक्रता बहुत कम आ पायी जो रस सञ्चार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है।"

और, मैं निवेदन करूँ कि द्विवेदी-युग के बाद आधुनिक युग की कविताओं में कवियों ने उन्हीं अभावों की पूर्ति निस्संदेह की है, जिनका उल्लेख शुक्लजी ने किया है। अस्तु।

जिस समय द्विवेदीजी ने सरस्वती का सम्पादन प्रारम्भ किया था, उस समय सम्पादकाचार्य्य स्वर्गीय रुद्रदत्त शर्मा ने कहा था—"हिन्दी में इतने उच्च कोटि के लेखक कहाँ मिलेंगे! पत्र का चलना कठिन है।" किन्तु, आवश्यकता ही आविष्कारों की जननी है। अतएव, परमात्मा को जब किसी आवश्यकता की पूर्ति करानी होती है, तब वह किसी व्यक्ति-विशेष को अपनी कृपा का पात्र बनाकर उसके हाथों असंभव को भी संभव बना देता है। उसीने, संयोग से द्विवेदीजी के हाथों "सरस्वती" का सफल एवं

अनुपम सम्पादन करा दिया। सरस्वती की पुरानी फाइलों में कैसी-कैसी अमूल्य सामग्री भरी हुई है। कोई ऐसा विषय नहीं, जिसपर गूढ़, गंभीर एवं मननीय लेख न छपा हो। द्विवेदीजी ने प्रोत्साहन दे-देकर बीसों लेखकों और कवियों को तैयार किया, और जनता में भी मासिक-पत्रों के पढ़ने की रुचि उत्पन्न की। द्विवेदीजी द्वारा तैयार किये हुए लेखक और कवि आज भी हिन्दी-साहित्य के स्तम्भ माने जाते हैं। उनके प्रिय शिष्य और हमारे प्रख्यात राष्ट्रीय कवि बा० मैथिली-शरण गुप्त ने हिन्दी कविता को गतिवान किया है। प्रसिद्ध कहानी-लेखक प्रेमचन्दजी को उर्दू से हिन्दी के गद्य-क्षेत्र में लाने का श्रेय भी द्विवेदीजी को ही है। इस भाँति, द्विवेदीजी ने एक हाथ से हिन्दी के पद्य- ाहित्य को संवारा, दूसरे से गद्य-साहित्य को।

द्विवेदीजी केवल हिन्दी लेखकों से ही सरस्वती में लेख लिखवाकर सन्तुष्ट नहीं हुए, बल्कि उन्होंने दूसरे भाषा-भाषी लेखकों को भी हिन्दी की सेवा के लिये उत्साहित किया। अँग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक श्री सेन्ट निहाल सिंहजी से भी उन्होंने 'सरस्वती' मे लेख लिखवाये। यह वह समय था जब कि हमारे यहाँ अंग्रेजी वेश और अंग्रेजी भाषा का बोलबाला था और हिन्दी को लोग तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। द्विवेदीजी ने, उस समय विदेशों में पढ़नेवाले भारतीय विद्यार्थियों से भी यात्रा-संबंधी लेख 'सरस्वती' में लिखवाकर उन्हें मातृभाषा का पुजारी बना लिया।

'सरस्वती' के सम्पादन के अतिरिक्त, द्विवेदीजी ने अंग्रेजी, बँगला और संस्कृत से अनेक उत्तमोत्तम पुस्तकों का अनुवाद भी किया है। परन्तु, द्विवेदीजी की प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति आलोचना-पूर्ण ही रहा है। खड़ी बोली के परिष्कृत नमूने के लिये जो पद्य लिखे हैं, उनमें भी उनकी आलोचक वृत्ति वर्तमान है। इनकी आलोचनाओं में कहीं-कहीं हास्य और व्यंग का गूढ़ मिश्रण है।

द्विवेदीजी ने एक निपुण माली की तरह हमारे साहित्योद्यान को काट छाँटकर परिष्कृत करने में बड़ी तपस्या की है। इनका शरीर जितना ही तपोवृद्ध है, हृदय उतना ही कोमल एवं स्नेहार्द्र है। इस समय द्विवेदीजी की अवस्था सत्तर वर्ष पार कर चुकी है। प्रायः आठ दस वर्ष से अस्वस्थ हैं। सन् १६२० से आप सरस्वती के *सम्पादन कार्य्य से विश्राम लेकर एकान्तवास कर रहे हैं।**

आपके सत्तरवें वर्ष के उपलक्ष में काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने उत्सव करके आपको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया तथा प्रयाग में इसी उपलक्ष में द्विवेदी-मेला हुआ।

हमारी यही शुभाकांक्षा है—

> "आर्य, आपके मनःस्वप्न को लेकर पलकों पर
> भावी चिर-साकार कर सकें, रूप-रङ्ग भर;
> दिशि-दिशि की अनुभूति, ज्ञान, शत-भाव निरन्तर
> उसे उठावें, युग-युग के सुख-दुःख अनश्वर
> —आप यही आशीर्वाद दें, दैव यही वर!"

---

*देहान्त—२१ दिसम्बर, १६३८

अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

वह ७० वर्षों का वृद्ध पुरुष, जिसकी आकृति से ही बुजुर्गी प्रकट होती है तथा जिसके बालों में बुढ़ापा और पैरों की गति में हृदय की स्फूर्ति है, कौन है ? अपनी बाह्य वेश-भूषा से 'सिक्ख' किन्तु अपनी बोल-चाल से हिन्दी-समाज का एक प्रतिनिधि। ये हैं विगत युग की हिन्दी-कविता के एक अन्यतम महारथी पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय।

इनका जन्म सं० १९२२ में हुआ था। आप आजमगढ़ (यू० पी०) के निजामाबाद तहसील के निवासी हैं। वहाँ सिक्खों के महन्त बाबा सुमेरसिंह एक काव्य-प्रेमी सज्जन थे। स्व० बाबू रामकृष्ण वर्मा तथा पं० अम्बिकादत्त व्यास के उद्योग से जैसा कवि-समाज किसी समय काशी में स्थापित था, वैसा ही बाबा सुमेरसिंह ने निजामाबाद में स्थापित कर रखा था। उन्हीं के द्वारा संचालित कवि-समाज में उपाध्यायजी अपनी प्रारंभिक रचनाएँ पढ़ा करते थे। उन्हीं बाबा सुमेरसिंह की एक प्रत्यक्ष स्मृति उपाध्यायजी की वेश-भूषा है। अपना 'हरिऔध' उपनाम भी आपने उसी समय रखा था—अपने नाम के 'अयोध्या' तथा 'सिंह' इन दोनों शब्दों का विपर्य्यय कर इनके पर्य्यायवाची शब्दों से आपने अपने इस उपनाम की सृष्टि की है। इस उप-

नाम-करण की छोटी-सी बात में ही जहाँ आपके साहित्यिक पाण्डित्य की सूचना मिलती है, वहाँ चिरपरिचित वस्तुओं में नवीनता की उद्भावना कर देने की क्षमता का भी परिचय मिलता है। यही क्षमता और यही दृष्टिकोण हम उनकी सम्पूर्ण कृतियों में पाते हैं।

उपाध्यायजी ने गद्य और पद्य दोनों ही लिखे हैं। गद्य में आपने प्रायः उपन्यास और कुछ साहित्यिक निबन्ध लिखे हैं। "ठेठ हिन्दी का ठाट" (सं० १६५६), "अधखिला फूल" (सं० १६६४), और अनूदित "वेनिस का बाँका", आपके उपन्यास हैं। "ठेठ हिन्दी का ठाट" और "अधखिला फूल" उपदेशात्मक एवं जनसाधारणोपयोगी, रोचक, सरल उपन्यास हैं। ये हिंदी की उस समय की कृतियाँ हैं, जब हमारे साहित्य में उपन्यास-तत्व का प्रवेश भी नहीं हो सका था। भाषा की दृष्टि से हिन्दी का कथा-साहित्य सर्वसाधारण के लिये कितना सुलभ बनाया जा सकता है, उपाध्यायजी के दोनों उपन्यास 'ठाट' और 'फूल' इसी बात के द्योतक हैं। किन्तु, "वेनिस का बाँका" उतना सरल उपन्यास नहीं, उसकी भाषा क्लिष्ट एवं संस्कृत-गर्भित है। इन उपन्यासों को देखने से ही विदित हो जाता है कि उपाध्यायजी अति सरल और अति कठिन दोनों ही तरह की भाषा लिखने में कितने निष्णात हैं। और, यही बात उनके पद्य-साहित्य के विषय में भी कही जाती है। उनके 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल' तथा अन्य कुछ सरल मुक्तक कविताओं में, भाषा बहुत सीधी-

सादी और साधारण व्यक्तियों तक के लिये सुगम है, तो 'प्रिय प्रवास' केवल भाषा के पण्डितों और मर्म्मज्ञों के ही हृदयंगम करने की वस्तु है। उपाध्यायजी की भाषा की यह सुबोधता और गहनता उनकी साहित्यिक कुशलता को प्रदर्शित करती है। यदि हम ध्यान से देखें तो विदित होगा कि उन्होंने सरल भाषा का प्रयोग अपनी उपदेशात्मक तथा उद्गारात्मक कविताओं में किया है। इसके प्रतिकूल संस्कृतपूर्ण गहन भाषा का प्रयोग अपनी भावात्मक एवं प्राकृतिक शोभामय कविताओं में। सम्भवतः विषय की भिन्नता को देखते हुए ही उन्होंने ऐसा किया हो। कुछ उदाहरण—

ज्यों निकलकर बादलों की गोद में,
 थी अभी एक बूँद कुछ आगे बढ़ी।
सोचने फिर फिर यही जी में लगी—
 आह, क्यों घर छोड़कर मैं यों कढ़ी॥
दैव, मेरे भाग्य में क्या है बदा,
 मैं बचूँगी या मिलूँगी धूल में।
या जलूँगी गिर अङ्गारे पर किसी,
 चू पड़ूँगी या कमल के फूल में॥

—'एक बूँद'

प्रिय पति, वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
दुख जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है?

लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है ?
पल पल जिसके मैं पन्थ को देखती थी,
निशिदिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती,
उर पर जिसके है सोहती मुक्तमाला,
वह नवनलिनी-से नैनवाला कहाँ है ?

—'प्रिय-प्रवास'

कुकुभ-शोभित गोरज-बीच से
निकलते व्रजवल्लभ यों लसे *
कदन ज्यों कर वर्द्धित कालिमा
विलसता नभ में नलिनीश है।
असित-पुष्प अलङ्कृतकारिणी
शरद-नील-सरोरुह-रञ्जिनी
नवल-सुन्दर श्याम-शरीर की
सजल-नीरद-सी कलकान्ति थी।

—'प्रिय-प्रवास'

उपाध्यायजी की काव्य-भाषा के ये तीन नमूने, अपने-अपने प्रसंग के अनुरूप ही हैं—पहिली कविता उपदेशात्मक है, दूसरी

---

* 'लसे', 'विलसे', 'लसित', 'विलसित'—यह भाववाचक शब्द उपाध्यायजी को विशेष प्रिय जान पड़ता है। उनकी रचनाओं में इस शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है।

शृंगारात्मक, तीसरा भावात्मक। प्रिय प्रवास से उनकी भाषा-न्तर कविता की भाषा का एक और नमूना ऐसा भी दिया जा सकता है, जिसमे विभक्ति-रहित केवल संस्कृत ही संस्कृत है। भाषा की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि छंद की दृष्टि से भी प्रिय-प्रवास संस्कृत वर्णवृत्त प्रधान है ही। बात यह है कि संस्कृत छंदों और शब्दों में एक ऐसी गरिमा है जो प्राकृतिक शोभा-सम्बन्धी एवं भावपूर्ण कविताओं को गुरुता प्रदान कर देती है। प्रिय-प्रवास का कवि भी ऐसा जान पड़ता है मानो संस्कृत कवियों की परम्परा में चल रहा हो, जिनके द्वारा इस प्रकार की कविताओं के लिये पीढ़ियों तक पूर्ण स्वर-सन्धान हो चुका है। साथ ही उसमे भाव-सृष्टि की अपेक्षा उक्ति-चमत्कार की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया है। भारतीय काव्य-साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश उक्ति-प्रधान ही है। कारण, हमारे यहाँ काव्य को एक प्रकार का वाग्विलास कहा गया है, और इस वाग्विलास में हृदय के स्पन्दन की अपेक्षा वाणी का नैपुण्य अधिक रहता है। वाणी का यह नैपुण्य ही अलंकारिक विधानों के वशीभूत होकर उक्ति बन जाता है। परन्तु, जब अलंकारिक विधानों के वशीभूत न होकर कवि स्वाभाविक हृदय से अपनी वाणी को उद्‌गीर्ण करता है, तब वह भावों की ही सृष्टि कर देता है, न कि उक्ति की। उक्ति में मन की सूझ का परिचय मिलता है, भाव में हृदय के स्पन्दन का। एक में पाण्डित्य है, तो दूसरे में प्रतिभा। अपनी उक्ति-प्रधानता के कारण 'प्रिय-प्रवास' भी एक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ है।

निस्सन्देह 'प्रिय-प्रवास' नामक महाकाव्य उपाध्यायजी के साहित्यिक जीवन का एक गौरव-स्तूप है। इस काव्य में भगवान कृष्णचन्द्र के जिस महत् किन्तु सरस जीवन का वर्णन किया गया है, वह अलौकिक न होकर लोकचक्षुओं-द्वारा हृदयगम्य हो गया है। जान पड़ता है, उपाध्यायजी उस पुरातन युग की कथा को ग्रहण करते समय आधुनिक युग की, प्रत्यक्ष में विश्वास करनेवाली वैज्ञानिक मनोवृत्ति को, नहीं भूले थे ; इसीलिये उस पौराणिक गाथा को स्वाभाविक घटना-क्रम से आधुनिक जीवन से एक कर दिया है। उस युग के परपीड़कों का संहार तथा उँगली पर गोवर्द्धन पर्वत को उठाकर गोकुल का उद्धार, इन सभी घटनाओं का लौकिक दृष्टि से बड़ा सुन्दर सामञ्जस्य किया गया है।

उपाध्यायजी अपनी सरल कविताओं में मुहावरों का प्रयोग बहुतायत से करते हैं। 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे', और 'बोलचाल' जैसी कविता-पुस्तकें, जान पड़ता है, उन्होंने केवल मुहावरों को बैठाने के लिये ही लिखी हैं। इस प्रकार की कृतियों को इस वृद्ध कवि के श्रांत जीवन का एक मनोविनोद ही समझना चाहिये। भाव-प्रधान कविताओं में मुहावरे प्रचुरता से बैठ नहीं सकते थे, इसलिये उन्हें उपदेशात्मक उक्ति-प्रधान पंक्तियों में ही पूर्ण आश्रय दिया गया। ऐसी कविताओं में यदि कहीं कोई उक्ति खिल पड़ी है तो अपने मुहावरे की खूबी ही के कारण। 'प्रिय-प्रवास' में भी उन्होंने एक स्थल पर अपने इस मुहावरे की

गुणों से ही असंभव को संभव, अलौकिक को लौकिक एवं स्वाभाविक कर दिया है, जैसे—वर्षा के जल-प्लावन में डूबते हुए ब्रज के उद्धार में कृष्ण का अपूर्व कौशल—

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में, ब्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे, रख लिया उँगली पर श्याम ने॥

अन्तिम पंक्ति की मुहावरेदार व्यंजना पर ध्यान दीजिये—जनश्रुति चली आया है कि कृष्ण ने गोवर्द्धन को उँगली पर उठा लिया था, किन्तु कवि यहाँ कुछ और ही बात कहता है—कृष्ण ने लोगों की रक्षा के लिए ऐसी तत्परता दिखलायी कि मानो उसने पर्वत को उँगली पर ही उठा लिया हो! कवि का यह कथन कितना चमत्कारपूर्ण, साथ ही उस अविश्वसनीय घटना को विश्वसनीय-सा बना देता है।

इसी प्रकार, 'प्रिय प्रवास' में कृष्ण सर्वत्र अपने लोक-रूप में ही देख पड़ते हैं, न कि अतिशयोक्तिपूर्ण घटनाओं में वर्णित अपने अलौकिक रूप में। प्राचीन युग के अनेक हिन्दी-कवियों ने जिस कृष्ण चरित्र को बहुत कुछ विकृत कर दिया है, 'प्रियप्रवास' द्वारा उपाध्यायजी ने उसका यथाशक्ति परिमार्जन कर दिया है।

इस वर्णनात्मक महाकाव्य में कई स्थल बड़े ही मार्मिक हैं, जैसे—कृष्ण के चले जाने पर ब्रज की दशा का दिग्दर्शन। उस करुण प्रसंग की विरह-वाणी पाठकों के हृदय को अपनी वेदना से आर्द्र कर देती है—यमुना के प्रवाह की तरह ही मानों करुणा की

एक कोमल धारा बड़ी दूर तक सुख-दुख की स्मृतियाँ लिये हुए बह चली हो।

'प्रिय-प्रवास' में प्रकृति की शोभा-सुषमा का सजीव चित्रण है। उसमें रूढ़ शैली में वर्णित सान्ध्य गगन की शोभा, वसन्त की वनान्त में व्याप्त वासन्तिकता, वर्षा की हरित कमनीयता तथा रास के समय शारदीय सुषमा के नयनाभिराम चित्र अपने समय के हिसाब से उच्च कोटि के हैं।

उपाध्यायजी ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में कविताएँ लिखी हैं। 'प्रिय प्रवास' लिखने के पहले आप ब्रजभाषा में ही कविताएँ लिखते थे। आपके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ ब्रजभाषा की रचनाओं से ही हुआ है।

यद्यपि आधुनिक खड़ी बोली का प्रचार विशेषतः आचार्य्य द्विवेदीजी के समय से हुआ और उनके प्रभाव से कई कवियों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ किन्तु, द्विवेदी-युग के प्रभाव से बाहर उनसे पहले ही खड़ी-बोली की ओर कुछ कवियों का रुझान हो चला था। भारतेन्दु-काल से ही ब्रजभाषा के प्राचीन-वसन को बदलकर हिंदी-कविता को भाषा और भाव, दोनों को ही खड़ी बोली का परिधान देने का एक क्षीण प्रयास प्रारम्भ हो गया था। इन्हीं प्रयासियों में उपाध्यायजी भी हैं। किन्तु, द्विवेदीजी की भाँति उपाध्यायजी अपने अनुयायी अधिक न उत्पन्न कर सके। कारण, उपाध्यायजी केवल कवि हैं, इसके विपरीत द्विवेदीजी

कवि की अपेक्षा एक साहित्यिक नेता। 'सरस्वती' उनके नेतृत्व का साधन बनी थी।

हाँ, तो उपाध्यायजी ने व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में कविताएँ लिखी हैं। स्व० पण्डित श्रीधर पाठक तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में कविताएँ लिखी हैं, परन्तु उनकी खड़ी बोली व्रजभाषा के पुट से अलग न रह सकी। कहीं-कहीं खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों के मिश्रण से खड़ी बोली की कविता में कोमलता, मनोहरता अवश्य आ गयी है, किन्तु उसे किसी एक भाषा का नाम न देकर प्रायः मिश्रित भाषा कह सकते हैं। उपाध्यायजी की विशेषता यह है कि उन्होंने दोनों को उनकी स्वतंत्र मर्य्यादा में स्थित रक्खा है। किन्तु, खड़ी बोली को व्रजभाषा के मिश्रण से पृथक् रखकर, व्रजभाषा की-सी जिस मृदुलिमा मधुरिमा की आवश्यकता थी उसकी पूर्ति तो आगे चलकर अति आधुनिक युग में श्रीसुमित्रानन्दन पन्त की ही लेखनी से हुई, जिनके भाव और भाषा की मनोहरता का प्रभाव आज हिन्दी के नवयुवकों की एक बहुत बड़ी संख्या पर पड़ा है। स्व० पाठकजी खड़ी बोली को व्रजभाषा द्वारा जो निकाई तथा प्रकृति सौंदर्य के भावों द्वारा जो 'मधुराई' प्रदान करना चाहते थे, वह महत्कार्य तो पन्तजी ने खड़ी बोली के स्वतंत्र अस्तित्व में ही सुसम्पादित कर दिया है। इसके अतिरिक्त उपाध्यायजी ने 'प्रिय प्रवास' द्वारा खड़ी बोली में जिस संस्कृतगर्भित गरिमा को स्थापित किया, उसकी हिन्दी की

प्रकृति के अनुकूल एक और माञ्जल रूप पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने अपनी कविताओं में दिया है। इस प्रकार विदित होता है कि खड़ी बोली निरन्तर विकासशील है।

उपाध्यायजी की ब्रजभाषा की कविताओं का एक संग्रह अभी हाल में 'रसकलश' नाम से प्रकाशित हुआ है। उपाध्यायजी ने इसमें साहित्य के सभी रसों की अवतारणा की है और प्रारम्भ में रसों की एक विस्तृत विवेचना भी की है। इस प्रकार रसशास्त्र के पाठकों के लिये तो इस पुस्तक की उपयोगिता सिद्ध हो सकती है, किन्तु भाव-काव्य की दृष्टि से इस पुस्तक की विशेषता कितनी है? 'रसकलश' को, प्राचीन पद्धति को सुरक्षित रखनेवाला एक 'शास्त्रीय ग्रन्थ' कहा जा सकता है, किंतु 'काव्य-ग्रन्थ' नहीं। काव्य-ग्रन्थ तो साहित्य-शास्त्र के किसी खास अंग की आर्डर-पूर्त्ति के तौर पर नहीं लिखे जा सकते, वे तो हृदयस्फूर्त्त भावकृति हैं जो सीधे हमारे जीवन में रस का सञ्चार करते हैं। 'रसकलश' में उपाध्यायजी ने अपनी जिस वाणी-विदग्धता का परिचय दिया है, आज से शताब्दियों पूर्व उसी प्रकार का पांडित्य-प्रदर्शन काव्याचार्य केशवदास ने भी किया था, जब कि उन्होंने साहित्य के अलंकार और नायिकाभेद को ही अपने काव्य में निबद्ध कर दिया था। ऐसी कृतियाँ मानसिक व्यायाम से ही उत्पन्न होती हैं। अतएव इनके लिये भावुक सहृदयों को भी [मान]सिक व्यायाम करना पड़ता है। यों 'रसकलश' में उपाध्याय के कुछ दोहे तथा ऋतु-वर्णन अच्छे बन पड़े हैं। उसमें कहीं-

कहीं आपने रहस्यात्मक उक्तियाँ भी प्रकट की हैं। आपकी रहस्यात्मक उक्तियाँ कबीर की अनुगामिनी हैं।

हम प्रारम्भ में लिख चुके हैं कि उपाध्यायजी की कृतियों में जहां साहित्यिक पाण्डित्य की सूचना मिलती है वहाँ चिरपरिचित (पुरातन) वस्तुओं में ही नवीनता की उद्भावना कर देने की भी। 'रसकलश' में हम यही बात विशेष रूप से पाते हैं। उसमें प्राचीन नायिकाओं का वर्णन तो है ही, साथ ही कुछ नवीन नायिकाएँ भी हैं; जैसे-'परिवार-प्रेमिका', 'देश प्रेमिका', 'लोक-सेविका', 'धर्म्म सेविका', इत्यादि। ये नवीन नायिकाएँ किस रस के अन्तर्गत आ सकती हैं, इसका विचार रसज्ञ ही कर सकते हैं। किन्तु, इस नवीन नायिका सृष्टि से एक बात स्पष्ट है कि लोगों को सामाजिक शिक्षा देने के लिये इनकी उद्भावना की गयी है। काव्य द्वारा शिक्षा देने की यह वृत्ति उपाध्यायजी के 'प्रिय प्रवास' में भी वर्तमान है। परन्तु, निवेदन है कि कवि का काम उपदेशक का काम नहीं है, यह तो व्याख्यान-मञ्च से कोई भी चतुर वक्ता कर सकता है। खड़ी बोली के उद्भट कवि स्व० पण्डित नाथूराम शर्म्मा 'शंकर' की अधिकांश कविताएँ इसी उपदेशकपन के कारण बोझिल होकर काव्य में अपना विशेष स्थान नहीं बना सकीं। अनेक पुरानी रुचि के साहित्यिक काव्य में लोकोपयोगिता का आरोप कर उसे जनसाधारण के लिये उपदेशपूर्ण बना देने की इच्छा रखते हैं। इस प्रकार वे कवि के गौरव के प्रति एक शासक की-सी मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। कवि को तो अपने

काव्य में बस इतनी ही सफल कला है कि वह केवल रस का उद्रेक मात्र कर दे।

अपनी व्रजभाषा की कविताओं में उपाध्यायजी ने यत्र-तत्र पूरबी शब्दों का भी प्रयोग किया है, अवश्य ही इस ठेठ प्रयोग से कहीं-कहीं कथन में मार्मिक स्वाभाविकता भी आ गयी है। इस सम्बन्ध में संभवतः आपका यह विचार है कि 'कोई भी साहित्यिक भाषा, स्थान-विशेष के शब्दों तथा प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रहती; बल्कि आवश्यकतानुसार भावाभिव्यञ्जन की पूर्ति के लिये अपना विस्तार करती रहती है।"

इधर उपाध्यायजी के पद्यों का प्रवाह वर्तमान युग की नयी दिशा की ओर भी बह चला है। द्विवेदी युग के बाद की कविता जिस 'छायावाद' के नाम से बदनाम है, उपाध्याय जी भी अब उसी छायावाद के अन्तर्गत आ रहे हैं। वृद्ध होकर भी आप समय से पीछे नहीं रहना चाहते, पर इस प्रगति में भी आप अपने वृद्धत्व की उपदेशात्मक काव्य-वृत्ति को अलग नहीं रख पाते। एक उदाहरण—

क्या समझ नहीं सकती हूँ
प्रियतम, मैं मर्म तुम्हारा!
पर व्यथित हृदय में बहती,
क्यों रुके प्रेम की धारा!

जब अमल कमल दल आँखें
थीं पुलकित विपुल दिखातीं,

तब इस वसुधा-तल को हा
थीं सुर पुर सदृश बनातीं,
आँखों में आया पानी,
था कितना प्यास बुझाता ?
उसकी बूँदों से जीवन
था परम पिपासित पाता !
उस काल नहीं किस जन के
मन के मल को था धोता ?
जिस काल तुम्हारा मानस
पावन तरङ्गमय होता !

इन उद्धृत अंशों में एक 'पतिप्राणा' रमणी के उद्गार हैं। आपकी इस शैली की कविताओं का समूह 'स्वर्ग-संगीत' नाम से प्रकाशित होगा। उसमें की कुछ कविताओं के शीर्षक इस प्रकार हैं—'गेय गान,' 'अकल्पनीय की कल्पना,' 'दृश्य जगत' 'अन्त-र्जगत इत्यादि। इसके द्वारा जान पड़ता है कि उपाध्यायजी के वृद्धवय की भावुकता का शेप पल्लव साहित्य के नूतन पावस से धुल उठा हो वे मानो नूतन युग का स्वागत कर रहे हों।

उपाध्यायजी के हृदय में अपने देश, समाज तथा ब्राह्मण जाति के प्रति बहुत अनुराग है। हिन्दू संगठन के पक्षपाती हैं। प्राचीन संस्कृति के अनुयायी होते हुए भी सामाजिक सुधारों के समर्थक हैं परदा प्रथा के बहिष्कार और अछूतोद्धार के पक्ष में हैं। 'रसकलश' में अछूतोद्धार पर आपने कविता भी

लिखी है। यही नहीं, अन्य अनेक सामाजिक विषयों पर भी आपने कविताएँ लिखी हैं। राष्ट्रीय वातावरण के अनुकूल भी आप कविताएँ लिखते रहते हैं। इस प्रकार न केवल आप साहित्यिक क्षेत्र में, बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में भी समय से पीछे नहीं रहना चाहते। सब मिलाकर उपाध्यायजी एक उदारहृदय वात्सल्यपूर्ण वृद्ध ब्राह्मण हैं।

उपाध्यायजी ने अपने स्वाध्याय से उर्दू, फ़ारसी और संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया है। यही कारण है कि उनकी भाषा इन विभिन्न भाषाओं से प्रभावित है। वर्षों तक आप आजमगढ़ में क़ानूनगो थे। २० वर्ष तक उस पद पर योग्यतापूर्वक काम करने के बाद सन् २३ में आपने अवकाश ग्रहण किया। तब से आप हिंदू-विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य के एक शिक्षक के रूप में विद्यार्थियों को विद्यादान कर रहे हैं। अपने सरल स्वभाव के कारण आप विद्यार्थियों के विशेष श्रद्धाभाजन हैं।

दिल्ली-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापतित्व देकर हिन्दी-संसार ने आपका यथोचित सम्मान किया है। पत्र-पत्रिकाओं में आप 'कवि-सम्राट्' के रूप में अंकित हैं तथा कवि-सम्मेलनों के सभापतित्व की शोभा भी प्रायः आप ही बढ़ाते हैं।

इधर 'वैदेही-वनवास' नामक आपका एक दूसरा महाकाव्य प्रकाशित हुआ है, जिसे देखने से ज्ञात होता है कि उसमें आपने 'चौपदों' और 'प्रिय-प्रवास' की शैलियों का एकत्रीकरण कर दिया है।

श्यामसुन्दर दास

"मातृभाषा के प्रचारक, विमल बी० ए० पास !
सौम्य शील-निधान, बाबू श्यामसुन्दर दास।"

आज से वर्षों पहले, स्व० पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने, ये पंक्तियाँ अपने स्नेहोद्गार के रूप में प्रकाशित की थीं। यह वह समय था, जब ठुकराई हुई गरीबिनी हिन्दी फिर से अपना गौरव प्राप्त करने के लिये स्वावलम्बी बन रही थी, एवं श्री श्यामसुन्दर दास-जैसे गंभीर कर्मठों ने उसके प्रचार और प्रसार का श्रीगणेश किया था। तब से अब तक हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर पहुँच चुकी है। न केवल भाषा की दृष्टि से, बल्कि साहित्य की दृष्टि से भी अब उसमें वह रंकता नहीं रह गयी है जो आज से [illegible] वर्ष पहले दिखलायी देती थी।

हिन्दी के वर्त्तमान प्रचार और उत्थान का एक [illegible] कारण है—काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा। उसने र[illegible] हृदय में जिस हिन्दी-प्रेम को अंकुरित किया, उसको [illegible] सींचकर पल्लवित करने का श्रेय, महात्मा गाँधी तथा अन[illegible] के इतर साहित्यिकों को है; किन्तु हिन्दी की वर्तमान प्रगति [illegible] सूत्रधार सभा ही है। सभा की ही प्रेरणा से हिन्दी-साहित्य-स[illegible]न का

सृजन तथा 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का प्रकाशन, ये दो अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य्य सम्पादित हुए। इन सभी कार्य्यों में बा० श्यामसुन्दर दास का ही प्रमुख हाथ रहा है। एक प्रकार से नागरी-प्रचारिणी-सभा का सम्पूर्ण इतिहास ही बा० श्यामसुन्दर दास का जीवन-चरित है। नागरी-प्रचारिणी सभा वह प्रकाश-स्तम्भ है जिसके उजेले में अनेक साहित्यिकों को अपना मार्ग प्राप्त हुआ है। इस सभा ने अनेक प्राचीन अप्राप्य ग्रन्थों की खोज की है। विस्मृति के अंधकारपूर्ण गर्भ में विलीन होते हुए अनेक कवियों को प्रकाश में ला खड़ा किया है। सहस्रों के व्यय से तथा वर्षों के प्रयत्न से 'हिन्दी-शब्दसागर' का निर्माण कराया है। इसकी प्रेरणा से लिखी गयी अन्य महत्वपूर्ण पुस्तकें भी हमारे साहित्य के गौरव की वस्तु हैं।

यदि कोई पूछे, वर्तमान हिन्दी साहित्य के प्रमुख अग्रेता कौन [illegible]?—तो हमारे सामने सहज ही दो नाम आ जायँगे—बा० [illegible] दास, प० महावीरप्रसाद द्विवेदी। इनमें से [illegible] सिर्फ एक ही क्षेत्र में काम किया अर्थात्—हिन्दी-[illegible] के लिये 'सरस्वती' द्वारा अनेकानेक होनहार [illegible] प्रस्तुत करना, जिसके फल-स्वरूप द्विवेदी-युग के नवयुवक [illegible] आज हमारे साहित्य के प्रौढ़-स्तम्भ माने जाते हैं। [illegible] दासजी ने एक साथ ही दो काम किये—एक [illegible]री-प्रचारिणी-सभा द्वारा हिन्दी के प्रचार-कार्य्य को [illegible] नक अग्रसर किया, दूसरी ओर प्राचीन पुस्तकों की

खोज तथा साहित्य और भाषा-विज्ञान-सम्बंधी सामग्रियों को एकत्र कर साहित्य सेवियों को साहित्यिक उपादान प्रदान किया। आचार्य्य शुक्लजी के 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास" के शब्दों में—'बाबू साहब ने बड़ा भारी काम लेखकों के लिये सामग्री प्रस्तुत करने का किया है।" साहित्यिक उपादानों की भाँति ही श्री श्यामसुन्दर दासजी ने द्विवेदीजी की 'सरस्वती' की भाँति साहित्यिक प्रोत्साहन का कार्य्य तो नहीं किया, किन्तु जिससे साहित्यिक प्रोत्साहन मिले, ऐसे साधन वे समय-समय पर अवश्य प्रस्तुत करते रहे हैं। यथा—नागरी-प्रचारिणी-सभा की प्रेरणा से प्रकाशित 'सरस्वती' हिन्दी-साहित्य की महान सेवा का साधन बनी।

बा० श्यामसुन्दर दास की दो मुख्य पुस्तकें— भाषा-विज्ञान' और 'साहित्यालोचन' हैं। ये पुस्तकें अत्यन्त जटिल और गम्भीर विषय की हैं। हिन्दी में अपने विषय की ये पहिली पुस्तकें हैं और आज भी इन विषयों का साहित्य हिन्दी में नहीं के बराबर है। इस क्षेत्र में स्वय सर्वप्रथम पदार्पण करने के कारण आपको स्वभावत अंग्रेजी साहित्य से अधिकाधिक अनिवार्य्य सहयोग लेना पड़ा है। "उन्हें भाषा को व्यापक बनाना पड़ा है, क्योंकि जिन विषयों पर उन्हें लिखना था, उन विषयों का अभी तक हिन्दी-साहित्य में जन्म ही नहीं हुआ था। उन्हें लिखकर समझाने का अवसर ही नहीं आया था।"

इधर आपने "हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास" नामक एक वृहत ग्रन्थ लिखा है। हिन्दी में इन दिनों इस विषय पर

अधिक पुस्तकें निकलने लगी हैं, परन्तु उनमें एक बात खटकती है, उनके लेखक अति आधुनिक काल के हिन्दी-साहित्य को बड़ी चलती दृष्टि से देखते हैं—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार चलती ट्रेन से दर्शक अपने सामने के दृश्य-जगत को। इसका परिणाम क्या होगा ? आधुनिक काल जब उत्तरोत्तर भविष्य में प्राचीन हो जायगा तब हिन्दी के भावी अन्वेषकों को वर्तमान साहित्यिक काल का प्रामाणिक विस्तृत इतिहास प्राप्त करने में प्रायः उसी प्रकार भटकना पड़ेगा, जिस प्रकार आज हम अपने विगत युगों के विषय में कभी-कभी भ्रान्त से हो उठते हैं। वर्तमान काल के इतिहास की सबसे अधिक मिट्टीपलीद की है मिश्र-बन्धुओं ने अपने 'मिश्र-बन्धु-विनोद' के चतुर्थ भाग में।

इधर आचार्य शुक्लजी ने भी अपने इतिहास में वर्तमान काल के द्वितीय उत्थान तक ही विशेष दृष्टिपात किया है। हाल में जिन-जिन महाशयों ने हिन्दी-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया है, उसमें अति आधुनिक काल के कई अच्छे साहित्यिकों का तो उल्लेख नहीं है, इसके विपरीत कई साधारण नामों का उल्लेख कर दिया गया है। स्पष्ट जान पड़ता है कि लेखक इस युग में रहकर भी इस युग से पूर्ण परिचित नहीं है। बाबू श्यामसुन्दर दासजी ने भी अपने इतिहास में अति आधुनिक काल पर दृष्टिपात किया है। सन्तोष की बात है कि उसमें उनका गंभीर उत्तरदायित्व बहुत-कुछ सुरक्षित है।

उक्त प्रमुख पुस्तकों के अतिरिक्त आपने अन्य कितनी ही

महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का सम्पादन और सकलन भी किया है। आप की सम्पूर्ण कृतियों के देखने पर यह ज्ञात होता है कि आपकी साहित्यिक प्रवृत्ति दो प्रकार की है—शास्त्रीय और संरक्षणीय। 'भाषा विज्ञान' और साहित्यालोचन आपकी शास्त्रीय प्रवृत्ति के द्योतक हैं, तथा सम्पादित और सकलित प्राचीन ग्रन्थ आपकी संरक्षणीय प्रकृति के।

अति गंभीर विषयों पर लिखने के कारण आपकी भाषा भी स्वभावतः गुरु गम्भीर है। यद्यपि भाषा मे स्निग्धता नहीं है,तथापि उसमें परिपुष्टता है, लेखन शैली मे भी यथाशक्ति सुबोधता है। उसमें अपने विषय को पूर्ण प्रतिपादित करने की सतर्कता दीख पड़ती है, 'यही कारण है कि उनकी शैली में हम एक ही विषय को बार-बार समझाते हुए पाते हैं। यह स्पष्ट दिखाई पडता है कि लिखते समय लेखक इस विषय मे अधिक सचेष्ट है कि कहीं "भावों की व्यजनाशक्ति का क्रमशः ह्रास तो नहीं हो रहा है।" हाँ, विषय दुरूह होते हुए भी, उनकी भाषा और शैली उतनी दुरूह नहीं।

"इनकी रचना में साधारणतः उर्दू के अधिक प्रचलित शब्द अवश्य आये हैं, परन्तु इन शब्दों के प्रयोग मे भी—यह तो निर्विवाद ही है कि उन्होंने सदैव तद्भव रूप का व्यवहार किया है। इसमे यह आशय गुप्त रूप मे वर्तमान है कि इन शब्दों को अपनी भाषा मे हड़प लिया जाय। इस विषय मे उन्होंने अपना विचार स्पष्ट लिखा है—'जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी

शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशी-पन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर हम उनके पूर्व रूप, रंग, आकार, प्रकार को स्थायी बनाये रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उन्हें स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन बनी रहेगी।" अतएव, "उन्होंने उर्दू के अधिकाधिक प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग किया है और वह भी इतना न्यून कि संस्कृत की तत्समता की धूमधाम में उनका पता भी नहीं लगता।.....इनकी संस्कृत तत्समता में अव्यावहारिक एवं समासान्त पदावली का उपयोग नहीं पाया जाता। साथ ही व्यर्थ का शब्दाडम्बर भी विशेष नहीं मिलता। इनकी भाषा इस बात का उदाहरण हो सकती है कि हिन्दी भाषा के शब्द-विधान में भी कितनी उत्कृष्टता तथा विशदता है। शैली साधारणतः संगठित तथा व्यवस्थित पायी जाती है। इसके अतिरिक्त उसमें एक धारावाहिक प्रवाह भी मिलता है।... .....परन्तु, इस प्रकार की भाषा और उसका प्रवाह सर्वत्र एक-सा नहीं मिलेगा। (इस बात का समर्थन स्वतः उन्होंने ही एक स्थान पर किया है—"जो विषय जटिल और दुर्बोध हों, उनके लिये छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है।" तथा "सरल और सुबोध विषयों के लिये यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों तो उनसे उतनी हानि नहीं होती।") जहाँ पर उन्हें किसी जटिल विषय का गवेषणात्मक विवेचन एवं तथ्यातथ्य का

निरूपण करना पड़ा है ऐसे स्थानों पर उनके वाक्य अपेक्षाकृत अवश्य जटिल हुए हैं भाषा अधिक विशुद्ध एवं दुरूह क्लिष्ट हुई है।

इस समय तक हिन्दी न इतनी प्रौढ़ और उन्नतिशील उन्नतिकर ली है कि उसमें उत्कृष्ट विषयों के खण्डन मण्डन एवं प्रतिपादन के लिए पर्याप्त सामग्री है। इसी उन्नति की परिचायक दासजी की भाषा है। उसमें सानुप्रासिक वर्ण-मैत्री का सुन्दर और आकर्षक रूप भी मिलता है उसमें भविष्य की वह महत्त्वाकांक्षा सन्निविष्ट है जिसके वशीभूत होकर साहित्य संसार में नित्य वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक ग्रन्थों का प्रणयन बढ़ता ही जायगा।'*

बा० श्यामसुन्दर दासजी की अवस्था इस समय साठ वर्ष की है। इन इतने वर्षों के साहित्यिक उत्थान का एक इतिहास आपके साथ भी संस्कार रूप में सन्निहित है। न केवल कृतियों द्वारा, बल्कि समय-समय पर विविध रचनात्मक कार्य्यों द्वारा आपने हिन्दी और हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है। जिस प्रकार आप साहित्य-सेवा में अग्रसर रहे हैं उसी प्रकार साहित्य-सेवियों के कीर्ति-प्रदर्शन में भी। वर्षों पहले 'हिन्दी-कोविद-रत्न-माला' (दो भाग) लिखकर आपने अपनी इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया था। ना० प्र० स० द्वारा किये गये आचार्य्य द्विवेदीजी के अभिनन्दनोत्सव में भी आपका उत्साह था। पुरानी पुस्तकों की खोज-द्वारा प्राचीन हिन्दी साहित्यिकों का कीर्ति-संरक्षण भी आपका महत्कार्य्य है। अपने

* 'हिंदी की गद्य शैली का विकास'

प्रतिष्ठित सहयोगियों द्वारा "हिन्दी-शब्द-सागर" का कई खण्डों में प्रणयन, सम्पादन और प्रकाशन आप ही के भगीरथ पुरुषार्थ का सुपरिणाम है। हर्ष है कि, नागरी-प्रचारिणी-सभा ने इस उपलक्ष्य में आपको "कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह" समर्पित कर आपका सम्मान किया। किन्तु, हमारी समझ में आपके कार्य्य-कलाप को देखते हुए हिन्दी-जनता-द्वारा आपका इतना ही सम्मान पर्य्याप्त नहीं है, उसे अपने इस महारथी की कीर्ति का विराट उत्सव मनाकर अपनी कृतज्ञता का पूर्ण परिचय देना चाहिये।

इधर कई वर्षों से आप हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के प्रधान हैं। ॐ इस पद पर आकर आपने तथा आपके शिष्य-प्रशिष्यों ने हिन्दी-साहित्य की उच्च कोटि की शिक्षा को बहुत आगे बढ़ाया है।

आपका स्वभाव अत्यन्त गुरुगंभीर है, किन्तु इस गुरुगंभीरता के भीतर भी एक प्रसन्न सहृदयता है। आप अपने समीप के व्यक्तियों को बड़ी कड़ी कसौटी पर कसते हैं, उस कसौटी पर उनकी दृष्टि में जो ठीक उतर गया, वह आपकी प्रसन्न सहृदयता का भाजन बन जाता है।

इधर कुछ समय से आप प्रायः अस्वस्थ रहते हैं। ईश्वर करे आप अधिकाधिक आयु प्राप्त कर अपनी कार्य्य-क्षमता से हिन्दी का और भी उपकार करें।

ॐ इस पद से सन् ३७ में आप रिटायर हो गये। अब आपके स्थान पर पं० रामचन्द्र शुक्ल हैं।

रामचन्द्र शुक्ल

"वनिता वह हाथ उठाये हुए
बुलिये कविवृन्द बुलाती वहाँ।"

"हम पेड़ पौधों और पशु पक्षियों से सम्बन्ध तोड़कर बड़े-बड़े नगरों में आ बसे, पर उनके बिना रहा नहीं जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे में बंद रखते हैं और कभी-कभी मन बहलाने के लिये उनके पास चले जाते हैं। हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों के नीचे सुख से सोते हैं। गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्यॉव म्यॉव करके मॉगती है या चोरी से ले जाती है। कुत्ते घर की रखवाली करते हैं, और वासुदेवजी कभी-कभी दीवाल फोड़कर निकल पड़ते हैं। बरसात के दिनों में जब सुर्खी-चूने की कड़ाई की परवा न कर हरी-हरी घास* पुरानी छत पर निकलने लगती है, तब हमें उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों ढूँढती हुई आती है और कहती है कि तुम हमसे क्यों दूर-दूर भागे फिरते हो।"—ये हैं शुक्लजी के भावोद्गार, जो

* इसी विषय पर हिन्दी के अभिनव तरुण कवि श्री गोपालसिंह नेपाली की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

उन्होंने "विचार-वीथी" नामक अपने निबंध-संग्रह में, 'कविता क्या है' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकट किये हैं। शुक्लजी कितने भावुक तथा प्रकृति-सौन्दर्य्य के कितने अनुरागी हैं, इस बात का परिचय उक्त थोड़े-से उद्धरणों से मिल जाता है।

'काव्य में रहस्यवाद' नामक अपनी पुस्तक में भी एक स्थान पर वे लिखते हैं—

"न जाने क्यों हमें मनुष्य जितना चर और अचर प्राणियों के बीच में अच्छा लगता है, उतना अकेले नहीं। हमारे राम भी हमें मन्दाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं, उतने अयोध्या की राजसभा में नहीं। अपनी-अपनी रुचि है। अस्तु, यहाँ पर इतना ही कहना है कि भाव-साहित्य में मनुष्येतर चर-अचर प्राणियों को थोड़ा और प्रेम का स्थान मिलना चाहिये। वे हमारी उपेक्षा के पात्र नहीं हैं। हम ऐसे आख्यान या उपन्यास की प्रतीक्षा में बहुत दिनों से हैं, जिसमें मनुष्यों की वृत्ति के साथ मिला हुआ किसी कुत्ते-बिल्ली आदि का भी कुछ वृत्त हो; घटनाओं के साथ किसी चिर-परिचित पेड़-झाड़ी आदि का भी कुछ सम्बन्ध दिखाया गया हो।"

यह घास नहीं है, पनप उठी मेरे जीवन की मधुर आस।
मैं तो रहता हूँ महलों में, पर प्राण यहीं करते निवास॥
बस गया यहाँ तो गलती से उस प्रभु का सुन्दर सुखद स्वर्ग।
क्या समझ लगा दी थी उसने मेरे आँगन में हरी घास॥

इसके अतिरिक्त, आप काव्य में केवल सुकुमार भाव से ही सन्तुष्ट नहीं हैं, बल्कि आपकी दृष्टि से—

"जीवन का सौन्दर्य्य वैचित्र्यपूर्ण है। उसके भीतर किसी एक ही भाव का विधान नहीं है। उसमें एक ओर प्रेम, हास, उत्साह और आश्चर्य आदि हैं; दूसरी ओर क्रोध, शोक, घृणा और भय आदि। एक ओर आलिंगन, मधुरालाप, रक्षा, सुख-शांति आदि हैं; दूसरी ओर गर्जन, तर्जन, तिरस्कार और ध्वंस। इन दो पक्षों के बिना क्रियात्मक या गत्यात्मक (Dynamic) सौन्दर्य्य का पूर्ण प्रकाश नहीं हो सकता। जहाँ इन दोनों पक्षों में साध्य-साधक-सम्बन्ध रहता है, जहाँ इनमें सामञ्जस्य दिखायी पड़ता है, वहाँ की उग्रता और प्रचण्डता में भी सौन्दर्य्य का प्रदर्शन होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सौन्दर्य्य भी मंगल का ही पर्य्याय है। जो लोग केवल शान्त और निष्क्रिय (Static) सौंदर्य्य के अलौकिक स्वप्न में ही कविता समझते हैं, वे कविता को जीवन-क्षेत्र से बाहर खदेड़ना चाहते हैं।"

इन विचारों में शुक्लजी की काव्यरुचि का थोड़ा-बहुत आभास मिल जाता है।

शुक्लजी ने गद्य और पद्य दोनों ही लिखे हैं। आपकी कविताएँ ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में हैं। ब्रजभाषा में "आप प्राचीन काल की प्रचलित पदावली के प्रयोग के पक्षपाती नहीं हैं, अतः आपकी भाषा ब्रजभूमि में आजकल प्रचलित ब्रजभाषा से

मेलती है। दोनों में भेद इतना ही है, जितना साहित्यिक तथा लोगों द्वारा व्यवहार मे प्रयुक्त भाषा मे होना स्वाभाविक है।"

प्रकृति से प्रेम होने के कारण आपकी कविताएं प्रकृति-सौन्दर्य्य-प्रधान हैं, और आपके उपरोक्त विचार के अनुसार ही वे केवल प्रकृति के कोमल रूप मे ही नहीं, बल्कि उसके समस्त रूप में सौन्दर्य्य देखती हैं। अपने "कविता क्या है"—शीर्षक निबन्ध में आपने प्रकृति के इस समस्त रूप पर लिखा है—

"वन-पर्वत-नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़ी, फूल, शाखा, पशु-पक्षी, आकाश, मेघ, नक्षत्र, समुद्र, इत्यादि (मनुष्य के) ऐसे ही चिर-सहचर-रूप हैं। खेती, दुर्री, हल, झोपड़े, चौपाये इत्यादि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं।"

और, प्राय यही सब बातें उनकी प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं के प्रिय उपादान हैं! उनकी ऐसी कविताओं में ग्राम्य प्रान्त की ठेठ प्रकृति का ठेठ रूप प्रचुरता से दीख पड़ता है। अवश्य ही उनकी इस प्रकार की कविताओं मे प्रकृति के 'वर्णन' की अपेक्षा प्रायः 'विवरण' ही रहता है।

आपकी प्रकृति-सम्बन्धी कविता की कुछ पंक्तियाँ सामने हैं—

भूरी हरी घास आस-पास, फूली सरसों है,
पीली-पीली बिंदियों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल, सघन फिर, और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत-पारावार॥

गाढ़ी हरी श्यामता की तुङ्ग राशि-रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेरघार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ-मंडल से,
धुँधली-सी नीली नगमाला उठी धुँआधार॥

इन उद्धृत पंक्तियों की भाषा कितनी गठीली और साफ़-सुथरी है। इसमें शुक्लजी की लेखनी की वह जटिलता नहीं है जो प्रायः लोगों को उनके गद्य में दीख पड़ती है। जान पड़ता है मानो उनका गद्य इस पद्य में आकर ढल गया हो। खड़ी बोली में शुक्लजी की यह भाषा, गुप्तजी, हरिऔधजी, गोपालशरणसिंहजी की भाषा की भाँति ही अपनी एक खास विशेषता रखती है।

हाँ, शुक्लजी के प्राकृतिक विवरणों को हम चित्र की अपेक्षा निर्देशात्मक नक्शा ही कह सकते हैं, जिसमें केवल गहरी स्याही से चिह्नित कुछ ऐसी घनी रेखाएँ हैं, जिनके द्वारा हमें वस्तु-परिज्ञान प्राप्त होता है। यह ठीक है कि "प्रकृति के चित्रणों में आप अपनी ओर से कुछ *मिलाते नहीं* हैं, न प्रकृति के ऊपर अपनी भावनाओं का आरोप ही करते हैं, न सजाने का प्रयत्न ही करते हैं।" हाँ, उनके प्रकृति-चित्र को हम प्रायः 'ड्राइंग' कह सकते हैं, 'पेन्टिंग' नहीं। शुक्लजी की प्रकृति-कविताओं में जितना भौगोलिक भाव-पक्ष है, उतना कला-पक्ष नहीं।

"हृदय का मधुर भार" शीर्षक एक बड़ी कविता शुक्लजी के बाल्य-संस्मरणों की सुन्दर कृति है, उसमें आपने ग्राम्य जीवन की अत्यन्त स्वाभाविक झलक दिखायी है। साथ ही कहीं व्यंग, कहीं

मीठी चुटकियों के द्वारा मानव-समाज की अज्ञता, दुर्बलता और अहकारिता का नग्न रूप भी दिखाया गया है।

ग्राम्य प्रकृति की भाति ही ग्राम्य जीवन के प्रति भी शुक्लजी का अनुराग स्वाभाविक ही है। यथा—

देखा देव-मन्दिर पुराना एक बैठे हम
वाटिका की ओर, जहाँ छाया कुछ आती है।
काली पड़ी पत्थर की पट्टियाँ पड़ी हैं कई
घेर जिन्हें घास फेर दिन का दिखाती है॥
क्यारियाँ कहीं हैं, लुप्त पथ म उगे हैं झाड,
बाड की न आड कहीं दृष्टि बाँध पाती है।
नर ने जो रूप वहाँ भूमि को दिया था कभी,
उसे अब प्रकृति मिटाती चली जाती है॥

इस भाँति वे मानव प्रभाव से रहित प्रकृति के ठेठ रूप के उपासक हैं। और, प्रकृति द्वारा ही कृत्रिम मानव-जीवन को प्रभावित और परिष्कृत करना चाहते हैं। क्या कुछ कुछ 'वर्ड्-स्वर्थ' की तरह ?

शुक्लजी ने व्रजभाषा मे अँगरेजी के 'लाइट आफ एशिया' के आधार पर 'बुद्ध चरित' नामक एक प्रबध-काव्य लिखा है। उसमें भी आपके प्रकृति पर्यवेक्षण के उदाहरण-स्वरूप अनेक मनोरम स्थल हैं। इस अनुवादित काव्य में शुक्लजी ने विविध छंदों का उपयोग किया है, किंतु हमें ऐसा जान पडता है कि शुक्लजी के कवित्त और सवैय्यों मे जो रस प्रवाह है, वह अन्य

छंदों में नहीं। इनके प्रयुक्त छोटे छंदों में उनका गंभीर प्रौढ़-पद-विन्यास भारी पड़ जाता है, वे उनके भार को मानो वहन नहीं कर पाते।

प्रायः अनुवादित होने के कारण 'बुद्ध-चरित' के प्रकृति-चित्रण में शुक्लजी की लेखनी अपनी ही शैली पर नहीं चली है, बल्कि उन्हें मूल-लेखक की तूलिका के रूप-रंग भी ग्रहण करने पड़े हैं। साथ ही खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा में प्रकृति की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमें माधुर्य भी अधिक आ गया है। यथा—

निखरी रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी,
चारुहासिनी खिली चाँदनी पटपर पै अति प्यारी।
अमराइन में धँसि आमन को दरसावति बिलगाई,
सीकन में गुछि फूलि रहीं जो मद झकोरन पाई।
चुवत मधूक परसि भू जौलौं 'टप-टप' शब्द सुनावैं,
ताके प्रथम पलक भारत भर में निज झलक दिखावैं।
महकति कतहुँ अशोक-मंजरी; कतहुँ-कतहुँ पुर माहीं,
रामजन्म-उत्सव के अब लौं गान रुके हैं नाहीं॥

इस प्रकार की भाषा और छंद में, शुक्लजी ने अपनी जो कविताएँ लिखी हैं, वे उनकी खड़ी बोली की कविताओं की अपेक्षा अधिक रस-स्निग्ध हैं।

उल्लिखित काव्य कृतियों के अतिरिक्त आपने 'वसंत-पथिक' और 'शिशिर-पथिक' शीर्षक कविताएँ भी लिखी हैं। कुछ

कविताएँ आपकी उपदेशात्मक भी हैं ; परन्तु आपने पद्य की अपेक्षा गद्य ही अधिक लिखा है। गद्य के क्षेत्र मे आप हिन्दी-साहित्य के तीन महारथियों (दास, द्विवेदी, शुक्ल) मे से हैं।

हमारे साहित्य मे शुक्लजी की परम प्रतिष्ठा उनके आलोचनात्मक ग्रन्थों और निबन्धों के ही कारण है। जायसी, सूर और तुलसी पर लिखी हुई उनकी गभीर समीक्षाएँ उच्च कोटि के पाठकों के अध्ययन और मनन की वस्तु हैं। इसीलिये, आप इस विषय के 'आचार्य्य' माने जाते हैं। 'काव्य मे रहस्यवाद' तथा 'हिंदी साहित्य का इतिहास' नामक ये दो ग्रन्थ भी आपके गभीर अध्ययन और विवेचन शक्ति के द्योतक हैं। इसके अतिरिक्त, आपके मनोवैज्ञानिक तथा साहित्यिक निबन्धों का एक उत्कृष्ट समह 'विचार-वीथी' नाम से प्रकाशित हुआ है। उसमे यदि एक ओर क्रोध, घृणा, श्रद्धा आदि मनोविकारों पर विश्लेषणात्मक निबन्ध हैं, तो दूसरी ओर 'कविता', 'उपन्यास' जैसे साहित्यिक विषयों पर भी।

आप लेखक ही नहीं, एक अच्छे अनुवादक भी हैं। आपने 'विश्व प्रपञ्च, 'कल्पना का आनन्द', 'मेगास्थनीज का भारतवर्षीय विवरण', 'राज्य प्रबन्ध-शिक्षा' इत्यादि ग्रथों का अँगरेजी से तथा 'शशाक नामक उपन्यास का बँगला से अनुवाद किया है।

स्वयं कवि होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि शुक्लजी ने आलोचना के क्षेत्र मे हिन्दी काव्यों को ही अपना प्रमुख विषय चुना। वे एक अध्यापक हैं, इसलिये अध्यापक-पद से उनके

आलोचक-रूप का अधिक से अधिक दर्शन मिलना उचित ही है। यदि हम कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि उनका हृदय कवि है, मस्तिष्क आलोचक है, तथा जीवन एक अध्यापक। परन्तु, उनका आलोचक रूप ही इतना प्रबल है कि उनकी कविताओं में भी हमें यत्र-तत्र उसीका परिचय मिलता है। उनके साहित्यिक और दैनिक व्यक्तित्व को हम एक निर्मरयुक्त भूधर कह सकते हैं, जिसमें एक ओर मस्तिष्क की गंभीर गुरुता है, तो दूसरी ओर हृदय की स्रोतस्विनी भावुकता।

शुक्लजी के चित्र को यदि देखें, तो उनके 'पर्सनल' व्यक्तित्व के साथ ही साहित्यिक व्यक्तित्व को हम बहुत स्पष्टता से हृदयंगम कर लेंगे। उसमें हमें पाश्चात्य वेश में एक भारतीय कलेवर दीख पड़ेगा। इसी प्रकार उनकी आलोचना-पद्धति तो अँगरेजी ढंग की है; किन्तु उसका आधार हमारे ही यहाँ का शास्त्रीय विधान है। काव्यालोचन के क्षेत्र में उनके दृष्टिकोण का परिचय 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक पुस्तक से मिलता है। उसमें एक ओर यदि आपने अँगरेज आलोचक रिचर्ड्स के विचारों में अवगाहन किया है, तो दूसरी ओर बंगाल के स्वर्गीय साहित्यकार डी० एल० राय की उन समीक्षाओं का समर्थन किया है, जो उन्होंने किसी समय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य-शैली के विरोध में लिखी थीं। राय महोदय की समीक्षाएँ तो हमारे सामने नहीं, किन्तु हम दिन के प्रकाश में आज भी प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि रवीन्द्रनाथ अपनी ही काव्य-शैली से प्रस्फुटित होकर विश्व वन्द्य हो गये हैं।

साहित्य के क्षेत्र में रिचर्ड्स और डी० एल० राय, यदि इन दोनों के विचार-कोण को एक में सम्मिलित कर दें और इस प्रकार एक पाश्चात्य तथा पौर्वात्य के सम्मिलन से जो स्वरूप हमारे सामने मूर्त होगा, उसीमें शुक्लजी का आलोचक-रूप है। रिचर्ड्स के आदर्श पर यदि एक ओर हिन्दी को शुक्लजी के पाश्चात्य पाण्डित्य का परिचय मिलता है, तो दूसरी ओर डी० एल० राय की मनोवृत्ति का भी जो साहित्य-क्षेत्र में नूतन प्रगति के भविष्य की ओर न देखकर उसके वर्तमान से निराश हो जाते हैं। वे साहित्य में नवीनता चाहते हुए भी उसे प्राचीनता के निश्चित गज से ही नापकर सन्तुष्ट होना चाहते हैं। इसीलिये, आपने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में स्थल-स्थल पर रहस्यवाद की अभिव्यक्ति को अभिव्यंजना, वक्रोक्ति, प्रतीक, लक्षणा इत्यादि की सीमाओं में आँकने का पाण्डित्यपूर्ण प्रचुर उद्योग किया है।

जिस प्रकार डी० एल० राय ने किसी युग में रवीन्द्रनाथ की नव-विकासोन्मुख काव्य-शैली पर असन्तोष प्रकट किया था, उसी प्रकार वर्तमान युग में शुक्लजी भी नवीन हिन्दी-कविता की प्रगति के प्रति सन्तुष्ट नहीं। इस प्रगति में आपको अँगरेजी, बँगला और उर्दू की नकल ही दिखायी पड़ती है। इस सम्बन्ध में आप अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं—

"द्विवेदीजी के प्रभाव से जिस प्रकार के गद्यवत् और इति-वृत्तात्मक (Matter of Fact) पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लग

रहा था, उसके विरुद्ध प्रतिवर्त्तन (Reaction) होना अवश्यंभावी था। इस तृतीय उत्थान के पहले ही उसके लक्षण दिखायी पड़ने लगे। कुछ लोग खड़ी बोली की कविता में कोमल पद-विन्यास तथा कुछ अनूठी लाक्षणिकता और मूर्त्तिमत्ता के लिये आकुल होने लगे। इसके अतिरिक्त जिस दबी हुई और अशक्त भाषा में भावों की व्यंजना होने लगी थी, उससे भी संतोष नहीं था। कल्पना की ऊँची उड़ान, भाव की वेगवती अनर्गल व्यंजना (?) और वेदना के अधिक विवृत स्वरूप की आकांक्षा भी बढ़ने लगी। पर, साथ ही बिल्कुल पुराने ढंग की ओर पलटना भी लोग नहीं चाहते थे, जिसमें परंपरागत (Conventional) वाच्य उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि की प्रधानता हो गयी थी। वे मूर्त्तिमत्ता अवश्य चाहते थे, पर वाच्य अलंकारों के रूप में नहीं, लक्षणा के रूप में, जैसी कि अँगरेजी की कविताओं में रहती है। इसी प्रकार तथ्यों के सादृश्य विधान के लिये भी परिष्कृत रुचि के अनुसार 'दृष्टांत' आदि का स्थूल विधान वांछित न था; अन्योक्ति-पद्धति ही समीचीन समझ पड़ती थी।

उन सब आकांक्षाओं की चटपट पूर्ति के लिये कुछ लोगों ने इधर-उधर आँखें दौड़ायीं। कोमल पद-विन्यास के लिये तो बँगला काफी दिखायी पड़ी। साथ ही रवीन्द्रबाबू के रहस्यवाद की रचनाएँ भी सामने आ रही थीं जिनमें अन्योक्ति-पद्धति पर बहुत ही मार्मिक मूर्त्तिमत्ता थी। रही अनूठी लाक्षणिकता, वह अँगरेजी साहित्य में लबालब भरी दिखायी पड़ी। वेदना की विवृत्ति के

लिये उर्दू-साहित्य बहुत दूर नहीं था। फल यह हुआ कि जो जिधर दौड़ा, वह उधर ही।"

शुक्लजी की इस कथन-शैली में उनकी लेखनी की वह गंभीरता नहीं, जो उनके प्रौढ़ वय की विशेषता है।

{ वर्तमान हिन्दी-कविता में जो परिवर्त्तन हुआ है, उसे 'नक्ल' कहना साहित्य के विकासशील प्रकृति की उपेक्षा करना है। आज के युग में एक देश का दूसरे देश के साथ जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित हो गया है, उसके कारण यह अनिवार्य्य है कि न केवल समाज और राजनीति पर ही एक का दूसरे पर प्रभाव पड़े, बल्कि साहित्यिक भाव-प्रभाव भी स्वाभाविक हो गया है। अतएव, जिस प्रकार सामाजिक क्षेत्र में हम पूर्ण रूप से 'भारतीय' रहते हुए भी, विश्व की प्रगति से वंचित नहीं रहना चाहते एवं एकमात्र किसी समय की बँधी रूढ़ियों को ही 'भारतीयता' कहकर तृप्त नहीं हो सकते, उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र में भी। शुक्लजी जिसे 'नकल' कहते हैं, वह नकल नहीं, वह तो एक सुन्दर साहित्यिक सहयोग है। यह साहित्यिक सहयोग यदि पश्चिम ने 'कालिदास' और 'उमर खैय्याम' के रूप में पूरब से ग्रहण किया है, तो पूरब ने भी पश्चिम से स्वभावतः कुछ लिया है। यह तो एक देश के साहित्य-समीर का दूसरे देश में परस्पर-सन्तरण है, हम उसे बाँध नहीं सकते।

प्रस्तुत नवीन हिन्दी-कविता ने अन्य साहित्यों से जो कुछ लिया है, वह 'अनुकरण' नहीं 'ग्रहण' है। यह ग्रहण उसने

अपनी ही भावुकता के सम्बल से किया है। हम एकमात्र नकल या अनुकरण तब मान लेते जब हमारी भावुकता में अपनी प्रतिभा न होती। खड़ी बोली के पिछले रेखे को देखते हुए क्या हम सचमुच कह सकते हैं कि हमारे वर्तमान युग के प्रवर्त्तक कवियों में प्रतिभा का अभाव है!

अभी तो बीसवीं शताब्दी का अर्द्धांश भी पूर्ण नहीं हुआ, केवल २०-२५ वर्ष के अल्प काल में ही वर्तमान खड़ी बोली की कविता ने जो उन्नति की है, वह हमारे हर्ष का ही कारण होना चाहिये। अपने पथ-सन्धान के लिये तो उसके सामने अभी बहुत बड़ा भविष्य पड़ा हुआ है, जब कि अकेले ब्रजभाषा ने ही अपनी उन्नति के लिये तीन-चार सौ वर्ष खींच लिये!

यह ठीक है कि कुछ उत्तरदायित्व-शून्य कलम-धारी, कवि बनने के शौक में बे-सिर-पैर की, शब्दाडम्बरपूर्ण लाइनें लिख-लिखकर, 'छायावाद' को बदनाम कर रहे हैं, और इस प्रकार 'छायावाद' ने बहुतों के लिये कवि बनना सुलभ कर दिया है। किन्तु, मैं कुमारी महादेवी वर्म्मा के शब्दों में निवेदन करूँ कि "प्रत्येक साहित्य में उसके परिवर्त्तन के आगे भी अव्यवस्था रहती है और पीछे भी। हमारा काव्य भी इसका अपवाद नहीं। अचानक चिर-परिचित नियमों के अन्तर्द्धान हो जाने से तथा नवीन काव्य सगीत के वास्तविक रूप को हृदयंगम न कर सकने के कारण हमने कलाओं में श्रेष्ठ काव्य कला को कौतुक मात्र समझ रक्खा है, फलत अनेक नवीन रचनाओं में गहराई नहीं मिलती।"

और, इसके साथ ही मैं इतना और भी कह दूँ कि घास-फूस की भाँति बढ़ती हुई इन कविताओं से घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। वे चाहे कूड़ा-कर्कट की ही कोटि की क्यों न हों, उनकी भी एक उपयोगिता है और वह यह कि वे नवीन साहित्य को उर्वर बनाने में 'खाद' का काम कर जायँगी।

'काव्य में रहस्यवाद' में शुक्लजी एक स्थान पर लिखते हैं—"किसी 'वाद' के ध्यान से, साम्प्रदायिक सिद्धान्त के ध्यान से, जो कविता रची जायगी, उसमें बहुत-कुछ अस्वाभाविकता और कृत्रिमता होगी। 'वाद' की रक्षा या प्रदर्शन के ध्यान में कभी-कभी क्या, प्राय: रस-संचार का प्रकृत मार्ग किनारे छूट जायगा।"

यहाँ पर शुक्लजी को यह जानकर सन्तोष होना चाहिये कि नवीन हिन्दी कविता के प्रवर्त्तक कवि काव्य में किसी 'वाद' को लेकर नहीं चले हैं। यदि उनसे पूछा जाय तो वे बेचारे शायद स्वयं यह नहीं बतला सकेंगे कि उनकी कविता किस 'वाद' के अन्तर्गत है। छायावाद साम्प्रदायिक नहीं है। साहित्य में प्रतिवर्त्तन होने पर स्वभावतः कवि-हृदय परिवर्त्तन-क्रम से जिस भूमि पर पहुँचता है, उसी भूमि पर नवीन हिन्दी-कवि और उनकी कविता है। उनका और उनकी कविता का विकास प्राचीन हिन्दी-कविता के भीतर से ही हुआ है। हाँ, इस विकास-क्रम में उसे विकसित रूप-रंगों से वेष्टित किया गया है; इसीलिये अपनी पिछली पीढ़ी की अपेक्षा वह भिन्न-सी लगती है। अजन्ता की कला के सम्मुख ठाकुर-शैली के चित्रों का जो 'निजत्व' है, वही प्राचीन हिन्दी-

कविता के सम्मुख नवीन हिन्दी-कविता का। और, जिस प्रकार किसी आनेवाले युग में वर्तमान चित्रकला के बाद किसी अन्य शैली के नव-विकास का होना भी सम्भव है, उसी प्रकार खड़ी बोली की कविता में भी पुनः-पुनः परिवर्तन निश्चित है। यह परिवर्तन जहाँ साहित्य की प्रगतिशीलता को सूचित करता है, वहाँ इस बात को भी कि साहित्य, युग-युगान्तर तक नित नये-नये हृदयों के भावों और विचारों से अपने अक्षय भण्डार को भरता रहता है, ताकि उसमें एक ही तरह की वस्तुएँ बहुत न हो जायँ और उसके भण्डार में प्रत्येक युग की विशेषता के लिये चिर-आकर्षण बना रहे।'

'काव्य में रहस्यवाद' में शुक्लजी लिखते हैं—

"रहस्यवाद या छायावाद काव्य-वस्तु (Matter) से संबंध रखता है और 'अभिव्यंजनावाद' का सम्बन्ध विधान-विधि (Form) से होता है।

इसी प्रसंग में एक दूसरे स्थान पर शुक्लजी लिखते हैं— "छायावाद या रहस्यवाद के अन्तर्गत उन्हीं रचनाओं को समझना चाहिये जिनकी काव्य-वस्तु रहस्यवाद के अनुसार हो।"

(परन्तु, यह छायावाद और रहस्यवाद है क्या ? हमारी समझ में वस्तुतः दोनों एक चीज नहीं हैं—द्विवेदी-युग में शुक्लजी जिस Matter of Fact का निर्देश कर चुके हैं, ठीक उसी की दूसरी दिशा में छायावाद है, जो वस्तुओं की इतिवृत्तात्मकता को न लेकर केवल उसकी जीवन-स्पर्शिता को ग्रहण करता है।

इतिवृत्तात्मकता बहुत कुछ विज्ञान के समीप रहती है और जीवन-स्पर्शिता या छायावाद, भाव के समीप। Matter of Fact का सम्बन्ध यदि स्थूल शरीर से है तो छायावाद का सूक्ष्म आत्मा से। इतिवृत्तात्मक दृष्टि का लेखक एक पुष्प के सर्वांग का वर्णन करेगा; किन्तु जीवन का छायावादी कवि उस पुष्प के भीतर से उस प्राणमय जीवन को अपनायेगा जो उसके साथ आत्मीयता स्थापित किये हुए है।

जिस प्रकार Matter of Fact के आगे की चीज़ छायावाद है, उसी प्रकार छायावाद के आगे की चीज़ रहस्यवाद है। छायावाद में यदि एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा आत्मा का आत्मा के साथ सन्निवेश है तो रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा के साथ। एक में लौकिक अभिव्यक्ति है तो दूसरे में अलौकिक। एक पुष्प को देखकर जब हम उसे भी अपने ही जीवन-सा सप्राण पाते हैं तो यह हमारे छायावाद की आत्माभिव्यक्ति है, परन्तु जब उसी पुष्प में हम एक किसी परम चेतन का विकास पाते हैं तो यह हमारी रहस्यानुभूति हो जाती है। अस्तु।

शुक्लजी हमारे साहित्य-क्षेत्र के एक वैज्ञानिक व्यक्ति हैं, अतएव, उनकी साहित्यिक समीक्षाएँ वैज्ञानिकों की तरह ही प्रायः घोर विश्लेषणात्मक, साथ ही अत्यन्त जटिल होती हैं। इस अति-वैज्ञानिक विश्लेषण के कारण ही उनकी भाषा और शैली में मनोहरता कम तथा गद्यमय वास्तविकता अधिक है, जो बुद्धि के

लिये ज्ञान की गम्भीरता प्रदान करते हुए भी हृदय को रसात्मकता से वञ्चित कर देती है।

उनके आलोच्य विषयों की प्रतिपादन-शैली, रेखागणित की-सी सयुक्तिक और दुरूह है। रेखागणित मे जिस प्रकार एक लघु बिन्दु को भी लेकर उसका दीर्घ प्रसार होता है, उसी प्रकार एक छटी-सी बात को भी उसका विश्लेषण करते-करते शुक्लजी अपनी विचार-रेखाओं द्वारा बड़ी दूर तक ले जाते हैं। और, जब तक उनके विचारों की भी कोई सहज व्याख्या न कर दे, वे गहन ही बने रहते हैं।

अपनी कृतियों के बीच-बीच मे उन्हें अपने अभिप्राय को पाश्चात्य दृष्टिकोण से स्पष्ट करने के लिये प्राय अँगरेजी शब्दों का भी निर्देश करना पडता है। जो लोग अँगरेजी से परिचित हैं, उन्हें उन शब्दों का अभिप्राय ग्रहण करने मे कोई विशेष असुविधा नहीं होती, किन्तु हिन्दी पाठकों को वे स्थानापन्न हिन्दी-शब्द सहज गम्य नहीं, कारण वे पारिभाषिक-से होते हैं। अतएव, वे शब्द भी 'अमरकोष' के सूत्र की भाँति ही अपनी व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार शुक्लजी के विचार भी प्राय व्याख्येय होते हैं और शब्द भी।

आपकी भाषा-सम्बन्धी गहनता साहित्यिक निबन्धों मे ही अधिक दीख पडती है; किन्तु क्रोध, लोभ इत्यादि मनोवृत्त्यात्मक विषयों में उनकी भाषा उतनी गहन नहीं। इसका कारण यही हो सकता है कि आपकी लेखनी कहीं विश्लेषणात्मक

रहती है तो कहीं व्याख्यात्मक। व्याख्यात्मक-शैली में स्वभावतः अपनी बात को केवल सूत्र-रूप में ही कहकर प्रायः उसे समझाना भी पड़ता है।

यद्यपि आपकी भाषा संस्कृतप्राय है, किन्तु यथाप्रसंग आप थोड़ा-बहुत उर्दू के चलते शब्दों और मुहावरों का भी प्रयोग करते हैं। आपकी भाषा में उर्दू शब्दों का प्रयोग तत्सम रूप में हुआ है। "बाबू श्यामसुन्दर दासजी की भाँति शब्दों को अपनाने का विचार इनका नहीं ज्ञात होता।"

अपने गहन निबन्धों में कहीं-कहीं शुक्लजी, मानो अपने विषय से स्वयं थककर, बीच-बीच में व्यंग्यात्मक हास्य का भी पुट दे देते हैं। गहन आलोच्य प्रसंगों के बीच में यत्र-तत्र उनके हास्य को मधुर कलियाँ उसी प्रकार खिल पड़ती हैं, जिस प्रकार सन्ध्या के मौन गंभीर आकाश में विरल तारिकाएँ। उनकी कुछ झलक इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—

१—हवा से खेलनेवाली स्त्रियाँ देखी नहीं, तो कम से कम सुनी तो बहुतों ने होंगी, चाहे उनकी जिन्दःदिली की कद्र न हो।

२—एक कविजी ने कहा है—

"काजर दे नहिं, एरि सुहागिन!
आँगुरि तेरी कटैगी कटाछन।"

यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है, तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिये छुरी, हँसिया आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिये।

३—बिहारी की नायिका जब साँस लेती है,-तब उसके साथ चार कदम आगे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडुलम की-सी दशा उसकी रहती है।

इस प्रकार की व्यंग्य हास्यपूर्ण पंक्तियाँ शुक्लजी की कृतियों में पान्थशाला का काम करती हैं, जहाँ उनके पाठकों को कुछ क्षण विश्राम मिलता है।

"शुक्लजी के पूर्व वास्तव में आलोचनात्मक प्रबन्ध बहुत कम लिखे गये थे। यदि लिखे भी गये थे, तो भाव और भाषा दोनों के विचार से वे उत्कृष्ट नहीं कहे जा सकते। ⊛ वास्तव में साहित्यालोचन की विश्लेषणात्मक, परिपुष्ट एवं व्यापक परिपाटी इन्होंने ही आरम्भ की है। आरम्भ करने में उतना बड़ा काम नहीं हुआ जितना कि उसके अनुकूल भाषा की उद्भावना में।

.....जिस प्रकार शुक्लजी ने अन्य विभागों में अपनी उद्भावना-शक्ति का परिचय दिया है, उसी प्रकार शब्द-निर्म्माण के संसार में भी वे प्रमुख बने हैं। शुक्लजी ने अनेक शब्दों का निर्म्माण भी किया है, और साथ ही अनेक शब्दों का पुनरुद्धार भी। 'विश्व-प्रपञ्च' की भूमिका में अनेक विज्ञानों और दर्शनों की चर्चा है, जिनमें बहुत-से नवीन निर्मित शब्दों के अतिरिक्त

⊛ द्विवेदीजी के समय में गम्भीर और मननशील आलोचनात्मक साहित्य की जो कमी थी, निःसन्देह उसकी पूर्ति आदरणीय शुक्लजी ने ही की है।—ले०

अनेक पारिभाषिक शब्द भारतीय शब्दों से लेकर प्रयुक्त हुए हैं। उन्हें शब्द-निर्म्माण के अतिरिक्त नवीन विषयों के निदर्शन एवं प्रतिपादन के लिये एक शैली-विशेष का स्वतन्त्र रूप खड़ा करना पड़ा है।" †

शुक्लजी की गहन-शैली का अनुसरण सबके लिये सहज नहीं; अतएव आपकी शैली को आदर्श मानकर उसका अनुसरण करने का प्रयत्न कालेज से निकले हुए हिन्दी के प्रायः वे ही विद्यार्थी करते हैं, जो अपने छात्र-जीवन में शुक्लजी की कृतियों के समीप रह चुके हैं।

शुक्लजी मिर्जापुर के निवासी हैं, वहीं संवत् १६४१ में आपका जन्म हुआ। अपने प्राथमिक दिनों में आप भारतेन्दु-कालीन साहित्यिक स्व० पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के सम्पर्क में रह चुके हैं। आपके प्रारंभिक लेख, 'प्रेमघन'जी द्वारा सम्पादित 'आनन्द कादम्बिनी' में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं लेखों में आपकी वर्तमान विकसित-शैली का मूल है। आप उर्दू, अँगरेजी इत्यादि साहित्यों का परिचय रखते हुए भी हिन्दी की स्वतन्त्र भावाभिव्यञ्जन-शक्ति के पक्षपाती हैं।

सन् १६०१ में आपने मिर्जापुर से ही एन्ट्रेन्स परीक्षा पास की। इसके बाद आपने वकालत पास करने की चेष्टा की थी; किन्तु कानूनी वकील की अपेक्षा आपको ईश्वर ने एक साहित्यिक

† 'हिन्दी की गद्य-शैली का विकास'

वकील बनाया। आलोचक का काम भी तो एक वकील के काम की ही भाँति गुरुतर होता है।

कुछ दिनों तक मिर्जापुर के मिशन स्कूल में अध्यापक रहने के बाद आप नागरी-प्रचारिणी-सभा-द्वारा प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी-शब्दसागर' के सम्पादकीय विभाग में काशी बुलाये गये। 'हिन्दी-शब्दसागर' के वर्तमान रूप का अधिकांश श्रेय शुक्लजी को ही है। प्रधान सम्पादक बा० श्यामसुन्दर दासजी ने शब्द-सागर की भूमिका में इस बात का निर्देश किया है।

इधर कई वर्षों से शुक्लजी हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी के एक प्रमुख एवं परम सम्मान्य अध्यापक हैं।

आपके 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' पर हिन्दुस्तानी एकेडेमी (प्रयाग) ने आपको अपने ५००) के पुरस्कार से सम्मानित किया है। सन् ३९ में 'चिन्तामणि' नामक निबन्ध-पुस्तक पर आपको मंगलाप्रसाद-पारितोषिक भी मिला है।

प्रेमचन्द

सन् १८९९ की बात है। बनारस में एक गरीब बालक मैट्रिक्युलेशन पास कर, आगे पढ़ने के लिये खर्च जुटाने की चिन्ता में डूबा हुआ सड़क पर धीरे-धीरे चला जा रहा था। जाड़ों के दिन थे। उसके पास एक कौड़ी भी न थी, वह दो दोनों से बहुत भूखा था। पेट की ज्वाला से व्याकुल होकर वह एक बुकसेलर की दूकान पर एक किताब बेचने जा रहा था। उसके हाथ में चक्रवर्ती गणित की कुंजी थी, जिसे उसने बड़ी हिफाजत से अपने पास रख छोड़ा था। वह चारों ओर से निराश होकर, उस दो रुपये की पुस्तक को एक रुपये में बुकसेलर के हाथ बेंच आया। उस समय उसके मुख पर ऐसी दीनता और बेबसी थी कि देखनेवाले को दया आ जाती।

जब वह किताब बेंचकर फिर सड़क पर चलने को मुड़ा, उसी समय एक भलेमानस का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने उससे पूछा—"नौकरी करने की इच्छा है?" उसने अत्यन्त नम्र होकर उत्तर दिया—"है।" उन भलेमानस ने उसे एक छोटे-से स्कूल में १८) मासिक पर सहायक मास्टर का काम दे दिया।

ऐसी ही गरीबी में दिन बिताते और स्कूलों की नौकरी करते हुए उस दीन बालक ने बी० ए० पास कर लिया। किन्तु, नौकरी करना और पेट भरना ही उसके जीवन का उद्देश्य नहीं था। परमात्मा को तो उसके हाथों कुछ और ही काम कराना मंजूर था। निदान, वही बालक आगे चलकर साहित्य-शिल्पी हुआ। आज भी वह अपनी उज्ज्वल कीर्ति से हमारे हिन्दी-साहित्य में आलोकित है।

क्या मैं बतला दूँ, वह कौन है? वे हैं बीसों कहानियाँ और उपन्यासों के यशस्वी लेखक श्री प्रेमचन्द।

प्रेमचन्दजी हमारे साहित्य के बहुत बड़े उपन्यासकार और कहानी-लेखक माने जाते हैं। उनकी कृतियाँ हिन्दी ही में नहीं, बल्कि उर्दू, गुजराती, मराठी, जापानी और कुछ अंशों में अँगरेजी में भी पढ़ी जाती हैं। इन सभी भाषाओं में उनकी कृतियों के अनुवाद हो गये हैं और हो रहे हैं। वर्तमान हिन्दी-साहित्य में इतना अधिक यश और गौरव अभी तक किसी को नहीं मिला।

पहले ये उर्दू में कहानियाँ लिखा करते थे, और अब भी ये अधिकतर उर्दू में ही लिखा करते हैं। उर्दू में ये सन् १९०१ ई० से कहानियाँ और सन १९०७ से उपन्यास लिखने लगे थे। और उन्हीं उर्दू की कृतियों का हिन्दी-रूप लेकर ये सन् १९१५ में हमारे साहित्य में आये।

हिन्दी में प्रेमचन्दजी से भी पहले, किस्से-कहानियाँ और

कथाएँ लिखी जा चुकी हैं; किन्तु वे कथाएँ और कहानियाँ साहित्यिक ढंग की न होकर, केवल जनसाधारण की रुचि के साँचे में ढली हुई, पुराने ढङ्ग की हिन्दी में लिखी गयी थीं। परन्तु, प्रेमचन्दजी ने कथा और कहानियों को साहित्यिक रूप दिया; भाषा और वर्णन-शैली में कुछ-कुछ कला का पुट दिया। इन्होंने अपनी कहानियों-द्वारा जन-साधारण की रुचि को उन्नत कर दिया। यही नहीं, केवल किस्सेनुमा कहानियाँ लिखने की अपेक्षा, हमारे दिन-रात के जीवन-संग्राम की गाथाएँ, सामाजिक और राजनैतिक उपन्यासों तथा कहानियों के रूप में हिन्दी को भेंट दीं।

प्रारम्भ में जब प्रेमचन्दजी उर्दू से हिन्दी में आये, उस समय उनकी भाषा ऐसी जान पड़ती थी मानो कोई पथिक अनजान प्रदेश में अपना पथ-सन्धान कर रहा हो। उसमें हिन्दी-व्याकरण की साधारण भूलों की भी भरमार थी। किन्तु, उर्दू में लिखते-लिखते मुहावरों पर हाथ बैठ जाने के कारण हिन्दी में भी उन्होंने प्रारम्भ से ही अपनी उसी मुहावरेदार भाषा का उपयोग किया, जिसके कारण आप उर्दू में सम्मानित हो चुके थे। इसीसे हिन्दी भाषा-सम्बन्धी आपकी प्रारंभिक त्रुटियाँ भी विशेष विरूप नहीं जान पड़ीं। उस समय की भाषा और भावना, दोनों में ही 'नये हाथ' का स्पष्ट आभास मिलता है। परन्तु, हिन्दी में लिखने के अटूट उत्साह ने धीरे-धीरे उनकी भाषा को परिमार्जित और प्रौढ़ कर दिया। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'सेवा-सदन' उसी परिमार्जन और प्रौढ़ता का एक श्रीगणेश-मात्र है। परन्तु, उनकी भाषा में

आज भी हिन्दी की आत्मा के अनुरूप पूर्ण साहित्यिकता आ गयी हो, सो बात नहीं। उनका प्रारम्भिक संस्कार उन्हें बराबर उर्दू के शब्दों और उसीके वाक्य-प्रवाह को माध्यम बनाकर हिन्दी में लिखने को प्रेरित करता है।

उनकी भाषा बहुत चलती हुई है। उसमें उर्दू की लोच और रवानगी है। दूसरे शब्दों में हिन्दी के कलेवर को उन्होंने उर्दू की साहित्यिकता से ही मण्डित कर दिया है; मानो आर्य्य-संस्कृति में मुस्लिम संस्कृति का मिश्रण हो गया हो।

आम विषयों के लिये उर्दू की बनी-बनाई चलती भाषा जनसाधारण के लिये बहुत लोकप्रिय हो गयी है; इसी कारण प्रेमचंदजी के उपन्यास और कहानियाँ सर्वसाधारण के बहुत निकट पहुँच सकी हैं। यदि हम कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि स्व० देवकीनन्दन खत्री ने अपने 'चन्द्रकान्ता' इत्यादि उपन्यासों में जिस सीधी-सादी उर्दूनुमा चलती भाषा का उपयोग किया है, उसीका एक परिमार्जित साहित्यिक रूप प्रेमचन्दजी की भाषा और शैली में देखा जा सकता है। कथानकों में केवल चुहचुहाती कहानी न देकर उसे ऊँचे स्टैन्डर्ड पर उठा देने के कारण उनकी कथा कृतियों में खत्रीजी के उपन्यासों से अधिक जीवन है। इस दृष्टि से प्रेमचंदजी, खत्रीजी से भी आगे, हिन्दी के प्रथम साहित्यिक कथाकार हैं।

खत्रीजी के उपन्यासों में केवल मनोरंजन का लक्ष्य होने के कारण, पात्रों के अनुरूप भाषा का प्रवाह परिवर्तित नहीं हुआ है।

प्रेमचंदजी ने स्वाभाविकता की सृष्टि के लिये यथानुरूप भाषा को बदल देने का प्रयत्न किया है। कुछ लोगों का विचार है कि उनका "ग्रामीणों के द्वारा ग्राम्य भाषा का प्रयोग करवाना तथा मुसलमानों के द्वारा उर्दू भाषा का प्रयोग करवाना बहुत उचित नहीं है।.......यदि प्रेमचंदजी की किसी कहानी में कोई पात्र चीन देश का होगा, तो क्या वे उससे चीनी भाषा में बोलवावेंगे ?" हमें तो यह प्रश्न ही हास्यास्पद जान पड़ता है। अवश्य ही एक चीनी लेखक जिस प्रकार अपनी कहानियों के किसी भारतीय पात्र-द्वारा भारतीय भाषा नहीं बोलवा सकता, उसी प्रकार भारतीय लेखक भी चीनी पात्र की चीनी भाषा का उपयोग नहीं कर सकता। परन्तु, एक चीनी लेखक अपने यहाँ के ग्रामीण किसानों एवं इतर श्रेणियों के पात्रों की बातचीत के अनुरूप भाषा की अवतारणा तो कर ही सकता है। यदि इतने से हम साहित्य में एक सहज स्वाभाविकता ला सकते हैं, तो यह अच्छी ही बात है। प्रेमचंदजी ने अपनी कृतियों में इस बात का ध्यान रखा है कि उनका पात्र यदि मुसलमान है तो उसकी भाषा में उर्दू की तत्समता का और यदि हिन्दू है तो संस्कृत की तत्समता का प्रयोग हो।

प्रेमचन्दजी मनोभावों को साकार रूप देने के लिये प्रायः उपमा और उत्प्रेक्षा का आश्रय लेते हैं। उनकी यह उपमा और उत्प्रेक्षा यदि कहीं-कहीं उनकी भाषा में चार चाँद लगा देती है तो कहीं-कहीं अति-सी भी हो जाती है, जिसके कारण भाषा

का सहज सुन्दर रूप कृत्रिम हो जाता है। प्रेमचन्दजी की भाषा का अत्यधिक सुन्दर रूप उनके पात्रों के हृदयोद्गार में है, जहाँ स्वाभाविक उच्छ्वास की भाँति ही उसमें प्रगति एवं प्रवाह है। अथवा जहाँ-जहाँ अपनी ओर से उन्होंने पात्रों की मन स्थितियों का दिग्दर्शन कराया है, वहाँ भी भाषा प्राणस्पर्शिनी हो गयी है। यत्र-तत्र उनकी भाषा में बड़ी ही सुन्दर कवित्वपूर्ण व्यजना भी रहती है।

प्रेमचन्दजी के वाक्य साधारणत छोटे छोटे होते हैं। इन छोटे-छोटे वाक्यों में सादगी है। अवश्य ही उनमें सर्वत्र प्रवाह का आवेग नहीं। छोटे छोटे वाक्यों में ही जहाँ कहीं कोई सुन्दर सूक्ति उन्होंने लिख दी है वहाँ "देखन को छोटे लगें, घाव करें गभीर" वाली बात हो गयी है। प्रेमचन्दजी की सूक्तियाँ उनके जीवन के अनुभवों की खमीर हैं। अपनी सूक्तियों के रूप में वे मानो हमें जीवन के प्रत्येक पग पर एक-एक मार्मिक 'मोटो' देते हैं, जो हृदय में उसी प्रकार मुद्रित हो जाते हैं, जिस प्रकार कागज के पृष्ठों पर छापे के अक्षर। प्रेमचन्दजी के अतिरिक्त, अपनी कृतियों में यत्र-तत्र सुन्दर सूक्तियों की सृष्टि करनेवाले कथाकार हैं—प्रसादजी।

प्रेमचन्दजी द्विवेदी युग के सर्वश्रेष्ठ कथाकार हैं। द्विवेदी-युग में जिस प्रकार हिन्दी कविता का नवोत्थान हुआ, उसी प्रकार हिन्दी-कथा-साहित्य का भी। परन्तु, कहा जा चुका है कि द्विवेदी-युग की कविताएँ इतिवृत्तात्मक (Matter of Fact) ही अधिक

हैं। साहित्य के नव प्रयास में यह स्वाभाविक ही है। प्रेमचंदजी की कथाकृतियों के लिये भी यही बात लागू है। उनकी कृतियाँ भी इतिवृत्तात्मक ही हैं। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि प्रेमचदजी की कृतियों में कथात्मकता बहुत है। उनमें कला-पक्ष कम, कहानी-पक्ष अधिक है। उर्दू-साहित्य अपनी कहानियों और किस्सों के लिये चरम सीमा पर पहुँच चुका है। प्रेमचन्दजी ने उसकी किस्सानुमी खूबियों को अपनी कहानियों में देश-काल के वातावरण से प्रभावित कर भली-भाँति उपस्थित किया है। उपन्यासों में वे इससे जरा और ऊपर उठकर, केवल देश-काल के वातावरण से ही नहीं, बल्कि कला की विश्व-व्याप्त प्रगति से भी प्रभावित हुए हैं। टाल्स्टाय की कहानियों के अनुवाद में जिस प्रकार उन्होंने अंग्रेजी को हिन्दी रूप दिया है, विश्व-साहित्य की प्रेरणा भी उनकी उसी प्रकार की है।

प्रेमचदजी के उपन्यासों के सम्बन्ध में, आचार्य्य शुक्लजी अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं—"इनमें कुछ खटकनेवाली बात यह मिलती है कि आख्यान समाप्त होते-होते, प्रेमचन्दजी का कलाकार (Artist) का रूप प्राय छिप जाता है और वे एक प्रचारक (Propagandist) के रूप में सामने आ जाते हैं।" इसका कारण, मैं निवेदन करूँ, प्रेमचन्दजी उस साहित्यिक परम्परा के कथाकार हैं, जो देश-काल की जनता को प्रभावित करते आये हैं, साहित्य की मनोरमता में सामयिक विचारों से। गाँधी-युग के विचारों का जितना उनके साहित्य-द्वारा

प्रचार हुआ उतना किसी अन्य के भी नहीं। सब मिलाकर अपने समय की जागृति के वे सर्वश्रेष्ठ कलाकार थे।

हाँ, कहानी पक्ष की अधिकता तथा प्रचारक-वृत्ति की आदर्शवादिता, ये दोनों ही बातें, कला की दृष्टि से प्रेमचन्दजी की लेखनी को गौण भी कर देती हैं। आज तो साहित्य में एक आवाज सुनाई पड़ती है—"कला कला के लिये!" हाँ, इस कथन के आधार पर साहित्य में जिन कलुषित लालसाओं को प्रश्रय दिया जा रहा है, हम उनके समर्थक नहीं। "कला कला के लिये"—इस वाक्य में जो गूढ़ ध्वनि छिपी हुई है, उसे ज़रा गंभीरता से समझने की आवश्यकता है। इस ध्वनि का तात्त्विक अभिप्राय यह है कि हम समाज की तरह साहित्य में भी रूढ़ियों के पाबन्द होना अनिवार्य्य नहीं समझते।

"कला कला के लिये"—यह सिद्धान्त इसलिये नहीं है कि कोई लेखक इसकी ओट में केवल मानसिक विलासिता करे। नहीं, यह तो साहित्य-क्षेत्र में कलाकार के लिये एक सुन्दर स्वतन्त्रता है, जिसके द्वारा उसकी नूतन मौलिक प्रतिभा, परम्पराओं की बँधी सीमा से परे होकर अपना स्वतन्त्र विकास कर सके! कोई भी लेखक कला की इस स्वतंत्रता का सदुपयोग भी कर सकता है, दुरुपयोग भी। "कला कला के लिये"—जब इस दृष्टिकोण को अपनाकर कुशल कलाकार अपनी दृष्टि को 'वाद-विरोध' की सीमा से बाहर, उन्मुक्त आकाश की तरह दूर तक फैला देता है, तभी वह अपने जिज्ञासु पाठकों के भीतर भी मौलिक भाव-

नाओं की उद्भावना कर सकता है ; अन्यथा वह उन्हें मानसिक गुलाम बना देगा। कलाकार योगी न होते हुए भी विश्व के रंग-मञ्च का एक निर्लिप्त दर्शक है, अच्छे-बुरे सभी पात्रों को वह निरपेक्ष दृष्टि से देखता है; और जो स्वतन्त्र चित्र उसे प्राप्त होता है, पाठकों के सामने उपस्थित कर देता है। अपने स्वतन्त्र चित्र की भाँति ही उसकी शैली के रंग-रूप भी अपने होते हैं और इसीलिये वह कह सकता है—कला का विकास कला में है, किसी युग विशेष की साहित्यिक रूढ़ियों में नहीं।'

परन्तु, इस कला का उद्देश्य क्या है ?—क्या यथार्थवाद के नाम पर नग्न चित्रों का प्रदर्शन ? यदि इतना ही उद्देश्य हो तो हम बिना कलाकार की सहायता के ही समाज में आये दिन वैसे चित्र देख सकते हैं। हमारी समझ में तो यथार्थवाद स्वयं एक ऊँचे दर्जे का आदर्शवाद है। उसके द्वारा हम नग्न चित्रों का प्रदर्शन नहीं करते, बल्कि यथार्थ चित्र तो एक साधनमात्र होते हैं, किसी महत् साध्य को संकेत रूप में इंगित करने के लिये। इस प्रकार की कृतिय के लिये कला की बारीकी अधिक अपेक्षित रहती है। आदर्शवादी जिस आदर्श अथवा अभाव को अपनी ओर से पात्रों-द्वारा प्रकट कर देता है, उसे यथार्थवादी कला के संकेतों से पाठकों की जिज्ञासा के लिये छोड़ देता है, ताकि पाठक उसे हृदयंगम करने में लेखक पर ही आश्रित न होकर अपने हृदय से भी काम लें, न कि चिरपरिचित नीति-वाक्यों की भाँति उसे भूल जायँ। इस भाँति कुशल यथार्थवादी समाज को मननशील बनने का

अवसर देता है और जिस बात को मनन करना पड़ता है, वह सहज ही भूली नहीं जा सकती।

अतएव, यथार्थवाद भी सामाजिक दृष्टि से उसी अभीष्ट की पूर्त्ति करता है, जिसके लिये आदर्शवाद का चिरपरित स्वर अनेक युगों से सुनायी पड़ता है—कभी नीति के दोहों में, तो कभी उपदेश की कहानियों में, तो कभी आदर्श-चरित्रों की अवतारणा करनेवाले उपन्यासों में। लक्ष्य दोनों का एक ही है, अन्तर यह है कि एक विष्णु की तरह सूक्ष्म रहकर अपने अभीष्ट को प्रकट करता है, तो दूसरा नारद की तरह प्रत्यक्ष एवं मूर्तिमान् होकर।

परन्तु, इसके साथ ही एक बात और भी—यथार्थवाद के नाम पर साहित्य में जीवन की हू-ब-हू फोटोग्राफी नहीं चाहिये; चाहिये सजीव चित्रकारी। एक निपुण चित्रकार भली-भाँति जानता है कि कहाँ कितना अंश चित्रित करना चाहिये, और कितना अंश छोड़ देना चाहिये—कहाँ कितना हलका रंग देना चाहिये, कहाँ कितना गहरा। क्या एक फोटोग्राफर भी इस बात को जानता है? नहीं, फोटोग्राफर की कृति में कुछ भी 'निजत्व' नहीं रहता, वह तो एक यन्त्र के सामने खड़ा हुआ दूसरा यन्त्र है। परन्तु, चित्रकार की चित्रकारी? अपने चित्रकार के रंग में रँगी, अपने कलाकार के प्राण में पगी, एक सुन्दर स्वतंत्र सृष्टि है। प्रेमचंदजी हमारे साहित्य के आदर्शवादी कथाकार हैं। यह प्रत्यक्ष आदर्शवादिता ही उनकी कृतियों में अत्यधिक 'कहानीपन' का कारण है।

कुछ लोगों का विचार है कि प्रेमचन्दजी की कहानियाँ, उपन्यासों की अपेक्षा अधिक अच्छी बन पड़ी हैं। इसका कारण, कहानियों में प्रेमचन्दजी कला को अधिक अपना सके हैं। उनकी कई कहानियाँ सचमुच ही खूब बन पड़ी हैं, उनमें प्रेमचंदजी की कलम बोल रही है। 'रानी सारन्धा', 'कामनातरु', 'सतरंज के खिलाड़ी' जैसी कहानियाँ एक बार पढ़कर फिर भूलने की नहीं।

प्रेमचन्दजी ने अपनी कथाओं में समाज के भिन्न भिन्न क्षेत्रों के पात्र चुने हैं; जैसे—किसान, जमींदार, हिंदू, मुसलमान, ईसाई, मिल-मालिक और मजदूर, महात्मा, दुश्चरित्र तथा भोले-भाले बालक और ग्रामीण स्त्रियाँ। ये सभी जीवन के रंगमञ्च पर प्रेमचन्दजी द्वारा सजीव रूप में अवतरित हुए हैं। इन सबकी प्रकृति, इनकी भाषा, इनकी भाव-भंगी, प्रेमचन्दजी की कृतियों में देखने की वस्तु है।

प्रेमचन्दजी अपनी कृतियों में सीधी-सादी 'साइकौलोजी' ही कुशलता-पूर्वक दिखला सकते हैं। वे सीधी-सपाट सड़क पर तो चल सकते हैं; किन्तु मानव हृदय के तारों की तरह सूक्ष्म, शत-शत शाखाओं में फूटी हुई इधर-उधर घूमी-फिरी ऊँची-नीची जीवन की पतली पगडंडियों पर नहीं। दूसरे शब्दों में वे स्थूल मनोवृत्तियों के ही लेखक हैं, सूक्ष्म मनोभावों के कम।

प्रेमचन्दजी की कथा-कृतियों में सबसे अधिक मार्मिक चरित्र-चित्र हैं, दीन-दुखियों एवं ग्रामवासियों के। कारण, व्यक्तिगत जीवन में स्वयं प्रेमचन्दजी उनके बहुत निकट रह

चुके हैं। "श्री प्रेमचन्दजी ने जिस समाज का चित्र अङ्कित करने का बीड़ा उठाया, वह दीन है। उसमें स्वर्गीय उल्लास नहीं है, उसमें उच्च भावनाओं का उन्माद नहीं है। यही कारण है कि विशेषतः उन स्थान पर जहाँ उन्हें कारुणिक अवस्था का वर्णन करना पड़ा है, वहाँ एक दीप्ति उत्पन्न हो गयी है।"

प्रेमचन्दजी विशेषतः 'जनता के साहित्यकार' हैं।

साहित्यिक दृष्टि से प्रेमचन्दजी से आलोचकों का चाहे जितना मतभेद हो; परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में उनका एक अपना स्थान है। प्रत्येक क्षेत्र में दो तरह के महापुरुष अपना महत्व छोड़ जाते हैं—एक वे जो इतिहास की नींव डालकर आनेवाली सन्तानों के लिये भविष्य का मार्ग खोल देते हैं, और दूसरे वे जो उस मार्ग पर चलकर अपनी प्रतिभा बुद्धि और कर्मवीरता से संसार को चकित कर देते हैं। इस दृष्टि से, हिन्दी के गद्य-क्षेत्र में श्री प्रेमचन्दजी और पद्य-क्षेत्र में बा० मैथिलीशरण गुप्त, पिछले बीस वर्षों के हिन्दी-साहित्य के इतिहास की नींव मजबूत करनेवाले हैं। हमारे ये पूज्य लोग अपना काम कर चुके, अब आगे साहित्य-निर्माण का काम नये-नये लेखक और नये-नये कवियों के लिये है।

प्रेमचन्दजी की कृतियों को जन-साधारण ने खूब अपनाया। उनकी कोई-कोई कहानी और कोई-कोई वाक्य तो इतने मर्म-स्पर्शी हैं कि उन्हें पढ़कर भारी से भारी ठोकर खाया हुआ मनुष्य भी पुनः जीवन-पथ पर चलकर सफलता प्राप्त कर सकता है।

उन सामग्रियों में यह विशेषता है कि वे बाह्य जगत के साथ अन्तरात्मा को भी अंकित करती हैं।"

कला के निर्माण में आप किसी उद्देश्य की आवश्यकता नहीं समझते। आपका विचार है, उसके निरीक्षण में जो लोकोत्तर आनन्द मिलता है उसीसे मनोवृत्तियाँ इतनी उच्च हो जाती हैं कि कला सार्थक हो जाती है।

उस दिन (३ मार्च सन् ३०), 'भारत कला-भवन' के उद्घाटनोत्सव पर, राय साहब के अभिन्न कला प्रेमी मित्र श्री एन० सी० मेहता, आई० सी० एस० ने भारतीय और पश्चिमीय कला के सम्बन्ध में कहा था—"यह तुलना का जमाना है। हमें तो पश्चिमी कला का पूर्वीय कला से मिलान करके निराशा हो गयी थी कि हमारे यहाँ कला कहाँ है ? परन्तु, जब हमने अपनी कला की ओर ध्यान दिया, तो पाया कि अजन्ता के समय यूरोप में कला का नाम भी नहीं था, और न वहाँ की कला उस आध्यात्मिक सतह तक पहुँची ही थी। यूरोप में कला का सबसे पुराना नमूना तेरहवीं शताब्दी का है। जिस समय यूरोप में कला का उदय हुआ, उस समय भारत में उसका मध्याह्न बीत चुका था। अजन्ता में तीनों प्रकार की विभूतियों—फ्रेस्को, अर्थात् भीति-चित्र, शिल्प और चित्रकारी का खजाना है।"

एक ओर भारतीय कला के क्षेत्र में काम करते हुए, दूसरी ओर राय साहब ने साहित्यिक क्षेत्र में भी काम किया। यद्यपि 'भारत-कला-भवन' का उन्नयन ही उनके जीवन का प्रमुख ध्येय

है, उसके साथ आपका साहित्यिक जीवन इस प्रकार सम्बद्ध हो गया है कि उससे पृथक आपके लेखन-कार्य्य का अस्तित्व हमारे सामने बहुत कम रह गया है; तथापि साहित्यिक क्षेत्र में भी आपने अपने पर्य्याप्त कृतित्त्व का परिचय दिया है। हिन्दी में ये गद्यकाव्य और कहानियों की एक विशेष शैली के प्रतिनिधि हैं। उनकी 'साधना' गद्यगीतों की एक प्रसिद्ध कृति है।

हिन्दी में गद्य काव्य की शैली की प्रगति पर, आचार्य शुक्ल जी अपने साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—

"पहले तो बंगभाषा के 'उद्भ्रान्त प्रेम' को देख लोग उसी प्रकार की रचना की ओर आकर्षित हुए।* पीछे भावात्मक गद्य की कई शैलियों की ओर लोग झुकने लगे। 'उद्भ्रान्त प्रेम' विक्षेप-शैली पर लिखा गया था। कुछ दिनों तक तो उसी शैली पर प्रेमोद्गार के रूप में पत्रिकाओं में कुछ निबंध निकले जिनमें भाव के प्रबल वेग की व्यञ्जना ही कुछ असम्बद्धता का आभास लिये हुए रहा करती थी। पीछे श्रीयुत चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्तल' में प्रेम के अतिरिक्त और दूसरे भावों की प्रबलता की व्यञ्जना भी अलग भावात्मक प्रबंधों में की गयी, जिनमें धारा

---

* बिहार के श्रीयुत ब्रजनन्दन सहाय-लिखित 'सौन्दर्य्योपासक' हिन्दी में पहला मौलिक गद्यकाव्य-मय आख्यान है। उसमें 'उद्भ्रान्त प्रेम' की शैली के भावोद्गार न होने पर भी विषय की दृष्टि से उसी श्रेणी की रचना है।—ले०

और विक्षेप दोनों शैलियों का मेल दिखाई पड़ा। * पर, ये दोनों प्रकार के गद्य रंगभूमि के भाषण के रूप में ही प्रतीत हुए। उनमें सुन्दर लाक्षणिक मूर्तिमत्ता तथा भाषा की कोमल पद-माधुरी का योग न था। पीछे रवीन्द्र बाबू के प्रभाव से कुछ रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का रंग लिये जिस भावात्मक गद्य का आविर्भाव हुआ, उसमें इन दोनों का योग पूरा-पूरा हुआ। इस प्रकार की रचनाओं में राय कृष्णदासजी की 'साधना' और वियोगी हरिजी का 'अन्तर्नाद' † विशेष उल्लेखयोग्य हैं।"

हिन्दी में इन दिनों जिस प्रचुरता से कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं, उस परिमाण में गद्य-काव्य नहीं। वस्तुतः गद्य-काव्य भी एक प्रकार के छंद-रहित मुक्तक कविता हैं, जिनमें लय नहीं, किन्तु संगीतपूर्ण भाव रहते हैं। छंदोबद्ध होते ही वे भी एक झनकारपूर्ण कविता बन जाते हैं। 'साधना' के कुछ गद्य-गीतों का वाक्यशः अनुवाद, आदरणीय कवि मैथिलीशरण गुप्त ने वर्षों पहले किया था, जिनमें से यहाँ दो-एक पाठकों के सामने हैं—

---

* श्रीयुत गुलाबराय की लिखी और वर्षों पहले प्रकाशित 'फिर निराशा क्यों ?' नामक पुस्तक ओजपूर्ण गद्य-काव्य की एक उत्साहजनक कृति है। उसके द्वारा भी हिन्दी गद्य की धारावाही शैली का परिचय मिलता है।

† 'अन्तर्नाद' की प्रेरक शक्ति 'साधना' जान पड़ती है। साथ ही उसमें शब्दाडम्बर अधिक है।

विभो! इस वीणा के सब तार
ढीले हुए तुम्हारे कर से बजकर बारबार
इससे अब बेसुरी बुरी यह देती है झकार
और तुम्हारी वादन-विधि पर करती है अविचार
कस दो फिर इसके गुण जिसमें हो स्वरका सचार
और साथ ही इसके मिथ्या सशय का परिहार
अथवा दूर करो इसके गुण जिससे किसी प्रकार
फिर शैथिल्य और सशय का भय ही रहे न भार
निर्गुण होकर बजे, करे यह नीरव लय विस्तार
हो जावे कृतकृत्य तुम्हारे बल से विश्वाधार!

यह 'साधना' के 'निर्गुण वीणा' शीर्षक गद्यगीत का अनुवाद है। कवि कहता है कि मनुष्य की यह जीवन-वीणा, जिसका निर्माण सृष्टि के निर्विकार तत्वों से हुआ था, अब अपने पूर्व-रूप को खोकर धीरे-धीरे सांसारिक विकारों से शिथिल हो गयी है, यहाँ तक कि यह मानव अपने निर्माता के अस्तित्व पर भी सशयात्मा (नास्तिक) हो उठा है।

दूसरे गीत ('बन्धन की आवश्यकता') में कवि ने अन्तरात्मा की निगूढ़ता का निर्देश किया है—इस कपालमय चर्मावृत्त शरीर के भीतर न जाने कितने तत्वो से भरी हुई विश्व की आत्मा है, जो कि उस परमात्मा-द्वारा मुखरित होकर ही अपने इस जड कलेवर में भी अपनी सजीवता का परिचय देती है—

क्या भीतर सूना है मृदंग
भरा अनन्त तत्व है इसके अन्तरंग में रंग
किसने ऐसा इसे गढ़ा है
पोला हो यह किन्तु मढ़ा है
दारु-खण्ड पर चर्म चढ़ा है
बँधा गुणों से अङ्ग-अङ्ग
क्या भीतर सूना है मृदंग

पाकर प्रिय थपकियाँ तुम्हारी
हुआ न यह किस ध्वनि का धारी
मुग्ध हुए सारे संसारी
रहे जलद तक देख दंग
क्या भीतर सूना है मृदंग

अब तुम क्या करते हो, बोलो
ठहरो, इसके गुण मत खोलो
मर्यादा को भी तो तोलो
होगा यह गुण बिना भंग
क्या भीतर सूना है मृदंग

निर्गुण और सगुण, भारतीय उपासना की इन दो भावनाओं का इन गीतों मे कवित्वपूर्ण आधुनिक रूपक है । 'साधना' के अतिरिक्त, 'छायापथ', 'प्रवाल', और अनुवादित 'पगला' राय-साहब की गद्य-काव्यमयी भाव-कृतियाँ हैं। इन सभी कृतियों के

गद्य-गीत 'साधना' की भाँति ही छोटे-छोटे एवं भावानुभूतिमय क्षणों के बिन्दु चिह्न हैं। भाषा प्रौढ़, परिष्कृत एवं सुस्पष्ट है।

रायसाहब द्विवेदी-युग के साहित्यकारों में हैं। उस युग में आपने स्फुट निबंधों के अतिरिक्त कुछ कविताएँ भी लिखी थीं, जिनमें से कुछ का संग्रह 'भावुक' नामक कविता-पुस्तक में है।

गद्य-काव्य और कविता के अतिरिक्त आपने सन् १७ से कहानियाँ भी लिखी हैं। 'अनाख्या' और 'सुधांशु' आपकी कहानियों के दो संग्रह हैं। 'अनाख्या' की कहानियाँ प्रायः घटनात्मक हैं; 'सुधांशु' की कहानियाँ भावात्मक। 'अनाख्या' में 'समदुःखिनी' और 'गहूला' शीर्षक कहानियाँ, इस संग्रह की ही नहीं, अपितु हिन्दी-साहित्य की उत्तम प्रणय-कहानियों में हैं। 'समदुःखिनी' की लेखन-शैली तो हिन्दी में प्रायः अकेली है—चित्र, उपचित्र, स्वप्न-स्मृति-चित्र, सब मिलकर इस कहानी का मर्म्मोद्घाटन करते हैं। छायापट के छायाचित्रों की भाँति ही वे हमारी आँखों के सामने अपने फ़िल्म उतारते चले जाते हैं और उनका अन्त इतना मर्म्मभेदक है कि हम स्तब्ध-से हो उठते हैं। इस शैली का एक अन्य विस्तृत स्वरूप, स्व० चन्द्रधर शर्म्मा गुलेरीजी के 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी में है। इस एक कहानी को लिखकर ही वे हिन्दी में अमर हो गये हैं।

चित्र-चित्रण में रायसाहब निपुण हैं। 'अनाख्या' में 'वसन्त का स्वप्न' शीर्षक कथात्मक गद्य-काव्य उनके चित्र-निरूपण का

सुन्दर उदाहरण है। हाँ, प्रकृति के चित्रण में उनकी भाषा अधिक स्निग्ध एवं सुललित रहती है।

रायसाहब विचार और भाव को प्रकृति रूप से प्रकट करने के लिये कभी-कभी एकदेशीय शब्दों का भी प्रयोग कर देते हैं, कुछ तो लेखक की हैसियत से और कुछ पात्रों के यथायोग्य वाणी के कारण। उदाहरण के लिये 'अनाख्या' की 'नर राक्षस' और 'कल्पना' शीर्षक कहानियाँ देखी जा सकती हैं। एक में यदि देहात के ठेठ वातावरण के अनुकूल ठेठ भोले शब्दों का प्रयोग है तो दूसरे में बनारसी जीवन के अनुरूप बनारसी शब्दों की बहार। अपनी अन्य कृतियों मे भी वे इसी प्रकार शब्दों को हृदय का रूप दे देने का ध्यान रखते हैं। अवश्य ही ऐसे प्रयोगों में कभी-कभी साहित्यिक सौन्दर्य कम हो जाता है; परन्तु उनमें ऐसी स्वाभाविकता रहती है जिससे जी की बात अधिक खुल पड़ती है।

'सुधांशु' की भावात्मक कहानियाँ मनोवृत्तिमूलक हैं। इन कहानियों को हम एक-एक रेखा-चित्र कह सकते हैं। घटनाओं का अभाव ही 'सुधांशु' की कथा-शैली की विशेषता है। इन कहानियों में उतनी ही कथा है, जितनी से एक मनोवृत्ति अथवा एक रस का उद्रेक-मात्र हो जाय। इस शैली की कहानियों के रायसाहब एक विशेष उद्भावक हैं। 'सुधांशु' के कथा-विन्यास में रवि बाबू की कवित्वपूर्ण मनोधारा और उसकी परि-समाप्ति में शरद् बाबू के अन्तर्भेदी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

गद्य-गीत 'साधना' की भाँति ही छोटे-छोटे एवं भावानुभूतिमय क्षणों के बिन्दु चिह्न हैं। भाषा प्रौढ़, परिष्कृत एवं सुस्पष्ट है।

रायसाहब द्विवेदी-युग के साहित्यकारों में हैं। उस युग में आपने स्फुट निबंधों के अतिरिक्त कुछ कविताएँ भी लिखी थीं, जिनमें से कुछ का संग्रह 'भावुक' नामक कविता-पुस्तक में है।

गद्य-काव्य और कविता के अतिरिक्त आपने सन् १७ से कहानियाँ भी लिखी हैं। 'अनाख्या' और 'सुधांशु' आपकी कहानियों के दो संग्रह हैं। 'अनाख्या' की कहानियाँ प्रायः घटनात्मक हैं; 'सुधांशु' की कहानियाँ भावात्मक। 'अनाख्या' में 'समदुःखिनी' और 'गहूला' शीर्षक कहानियाँ, इस संग्रह की ही नहीं, अपितु हिन्दी-साहित्य की उत्तम प्रणय-कहानियों में हैं। 'समदुःखिनी' की लेखन-शैली तो हिन्दी में प्रायः अकेली है—चित्र, उपचित्र, स्वप्न-स्मृति-चित्र, सब मिलकर इस कहानी का मर्म्मोद्घाटन करते हैं। छायापट के छायाचित्रों की भाँति ही वे हमारी आँखों के सामने अपने फ़िल्म उतारते चले जाते हैं और उनका अन्त इतना मर्म्मभेदक है कि हम स्तब्ध-से हो उठते हैं। इस शैली का एक अन्य विस्तृत स्वरूप, स्व० चन्द्रधर शर्म्मा गुलेरीजी के 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी में है। इस एक कहानी को लिखकर ही वे हिन्दी में अमर हो गये हैं।

चित्र-चित्रण में रायसाहब निपुण हैं। 'अनाख्या' में 'वसन्त का स्वप्न' शीर्षक कथात्मक गद्य-काव्य उनके चित्र-निरूपण का

सुन्दर उदाहरण है। हाँ, प्रकृति के चित्रण में उनकी भाषा अधिक स्निग्ध एवं सुललित रहती है।

रायसाहब विचार और भाव को प्रकृति रूप से प्रकट करने के लिये कभी-कभी एकदेशीय शब्दों का भी प्रयोग कर देते हैं, कुछ तो लेखक की हैसियत से और कुछ पात्रों के यथायोग्य वाणी के कारण। उदाहरण के लिये 'अनाख्या' की 'नर राक्षस' और 'कल्पना' शीर्षक कहानियाँ देखी जा सकती हैं। एक में यदि देहात के ठेठ वातावरण के अनुकूल ठेठ भोले शब्दों का प्रयोग है तो दूसरे में बनारसी जीवन के अनुरूप बनारसी शब्दों की बहार। अपनी अन्य कृतियों में भी वे इसी प्रकार शब्दों को हृदय का रूप दे देने का ध्यान रखते हैं। अवश्य ही ऐसे प्रयोगों में कभी-कभी साहित्यिक सौन्दर्य कम हो जाता है; परन्तु उनमें ऐसी स्वाभाविकता रहती है जिससे जी की बात अधिक खुल पड़ती है।

'सुधांशु' की भावात्मक कहानियाँ मनोवृत्तिमूलक हैं। इन कहानियों को हम एक-एक रेखा-चित्र कह सकते हैं। घटनाओं का अभाव ही 'सुधांशु' की कथा-शैली की विशेषता है। इन कहानियों में उतनी ही कथा है, जितनी से एक मनोवृत्ति अथवा एक रस का उद्रेक-मात्र हो जाय। इस शैली की कहानियों के रायसाहब एक विशेष उद्भावक हैं। 'सुधांशु' के कथा-विन्यास में रवि बाबू की कवित्वपूर्ण मनोधारा और उसकी परि-समाप्ति में शरद् बाबू के अन्तर्भेदी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

राधिकारमण प्रसाद सिंह

"किरन ! तुम्हारे कानों में क्या है ?"

उसने कानों से चंचल लट को हटाकर कहा, "कँगना"।

"अरे, कानों में कँगना !"—सचमुच दो कंगन कानों को घेर कर बैठे थे।

"किरन अभी भोरी थी। दुनिया में जिसे भोरी कहते हैं वैसी भोरी नहीं। उसे वन के फूलों का भोलापन समझो।

....

"मैं रसाल की डाली थाम्हकर पास ही खड़ा था। वह बालों को हटाकर कंगन दिखाने की भंगी प्राणों में रह-रहकर उठती थी। जब माखन चुरानेवाले ने गोपियों के सिर के मटकों को तोड़कर उनके भीतरी किले को तोड़ डाला; या नूरजहाँ ने अञ्चल से कबूतर को उड़ाकर शाहनशाह के हृदय की कठोर धज्जियाँ उड़ा दी थीं। फिर नदी के किनारे वसन्त-वल्लभ रसाल पल्लवों की छाया में बैठी किसी अपरूप बालिका की यह सरल स्निग्ध भंगी एक मानव-अन्तर पर क्यों न दौड़े ?

किरन इन आँखों के सामने प्रतिदिन आती ही जाती थी। कभी आम के टिकोरों से आँचल भर लाती, कभी मौलसिरी के

फूलों की माला बना लाती; लेकिन कभी भी ऐसी बाल-सुलभ लीला आँखों से होकर हृदय तक नहीं उतरी। आज क्या था, कौन शुभ या अशुभ क्षण था कि अचानक वह बनैली लता मन्दारमाला से भी कहीं मनोहर देख पड़ी। कौन जानता था कि चाल से कुचाल जाने में, हाथों के कंगन भूलकर कानों में पहनने में इतनी माधुरी है। दो टके के कँगने में इतनी शक्ति है। गोपियों को कभी स्वप्न में भी नहीं झलका था कि बाँस की बाँसुरी में घूँघट खोलकर नचा देनेवाली शक्ति है।"

× × ×

ये हैं सन् १६१३ में लिखी गयीं भावमयी पंक्तियाँ! आज की हिन्दी की गद्य-शैली के पूर्ण परिपक्व होने के पहले, उस समय भी कितनी सुन्दर सुललित कवित्त्वपूर्ण भाषा लिखी गयी, यह है उसकी एक छटा!

इस आख्यान के लेखक राजा राधिकारमण, बिहार के साहित्यिक नवयुवकों के एक विशिष्ट प्रतिनिधि हैं। काशी के मासिक पत्र 'इन्दु' द्वारा आपका प्रथम साहित्यिक दर्शन सन्' १३ में प्राप्त हुआ था। यह वह समय था, जब 'प्रसाद' जैसे साहित्यिकों का हमारे साहित्य में उदय हुआ था। इस बीच, राजासाहब ने अपने तत्कालीन साहित्यिकों—जितनी कृतियाँ तो नहीं लिखीं; किन्तु आपकी जो थोड़ी-सी कथा-कृतियाँ—कहानियाँ और उपन्यास के रूप में—वर्त्तमान हैं, वह हमारी भाषा और भाव के शृंगार हैं।

आप एक गद्य-कवि हैं। आपकी कहानियों की भाषा एक

कवि की भाषा है। उसमें बड़ी स्पष्टता से हृदय को विभोर कर देनेवाली भाव-व्यंजना रहती है। उसके उद्गार-जैसा प्रवाह और झनकार-जैसा संगीत है। प्रसादपूर्ण सहज सुसंस्कृत भाषा आप की शैली की विशेषता है। आपकी भाषा शरद्-जाह्नवी की भाँति, चाँदनी में चमकती हुई, सरल चटुल गति से गुंजार करती हुई बहती है। इसी शैली का एक स्वतन्त्र विकास हमें बिहार के हिंदी-भूषण श्री शिवपूजन सहाय की भाषा में मिलता है।

राजासाहब और शिवपूजनजी की भाषा में माधुर्य और ओज का सुन्दर समावेश है। साथ ही, भाषा में बिहार की वह बदनाम प्रान्तीयता नहीं।

शिवपूजनजी की भाषा में कवित्व-चमत्कार के लिये जो गहन सामासिक, सानुनासिक और अलंकारिक संस्कृत-पदावली देखने को मिलती है, वह राजासाहब की भाषा में नहीं। शिव-पूजनजी गहन और सरल दोनों ही प्रकार की भाषा लिखने में पटु हैं। 'हरिऔधजी' की तरह ही वे भी गद्य-क्षेत्र में अपनी भाषा-सम्बन्धी हस्तलाघवता को सिद्ध किये हुए हैं। किन्तु, उसकी गहन सामासिक पदावली यदि कवियों के हृदय के तार को बजाती है, तो राजासाहब की वाक्यावली भावुक-मात्र की मानसी वीणा को।

कदाचित राजासाहब की उत्कृष्ट कहानियों का कोई संग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। बहुत पहले, आपकी आरंभिक कहानियों का एक संग्रह 'गल्प लहरी' नाम से ना० प्र० स० ने

प्रकाशित किया था। आपने कुछ गद्य-काव्य भी लिखे हैं, जिनका संग्रह 'नवजीवन' नाम से प्रकाशित हुआ था। 'तरंग' नामक एक सुन्दर सामाजिक उपन्यास भी आपने लिखा है। 'रिफार्मर' नामक एक नाटक भी, जो खेला तो जा चुका है, किन्तु अभी तक अप्रकाशित है। वर्षों के साहित्यिक अवकाश के बाद आप पुनः साहित्य-सेवा में दत्तचित्त हो रहे हैं। इधर 'राम रहीम' नामक आपका एक वृहत उपन्यास और 'गाँधी टोपी' नामक कहानी-संग्रह देखने में आया है। आज जिसे हम हिन्दुस्तानी कहते हैं वह कभी हिन्दी में साहित्यिक छटा प्राप्त करेगी तो उसका एक सुन्दर रूप राजा साहब की इन पुस्तकों में मिलेगा।

शरद बाबू के उपन्यासों को, उनकी ठेठ स्वाभाविकता के कारण आप विशेष पसंद करते हैं। आपके कथानकों में भी ठेठ स्वाभाविकता का परिचय मिलता है। 'कानों में कँगना' के अतिरिक्त 'बिजली' भी आपकी एक उत्कृष्ट कहानी है। यों तो आपका रचना काल सन्' १३ से प्रारंभ होता है; किन्तु अपने विद्यार्थी-जीवन से ही कुछ न कुछ लिखते आये हैं। एम० ए० पास होने के बाद आप विशेष रूप से साहित्यिक क्षेत्र में आये। साहित्य के अतिरिक्त आप कला के भी प्रेमी हैं।

आप बिहार के सूर्य्यपुरा-स्टेट के शान्त, शिष्ट, सहृदय नृपति हैं। जन्म-सम्वत् १६४७।

माखनलाल चतुर्वेदी

"अरे अशेष ! शेष की गोदी
तेरा बने बिछौना-सा !
आ, मेरे आराध्य ! खिला लूँ
मैं भी तुझे खिलौना-सा ॥"

इन पंक्तियों में माखनलालजी के उपास्य भाव का कवित्व-पूर्ण सूत्र है। हिन्दी-संसार एक 'भारतीय आत्मा' के नाम से उनकी राष्ट्रीय कविताओं से चिरपरिचित है। किन्तु, केवल वे राष्ट्रीय कवि नहीं, बल्कि मुख्यतः प्रेममय जीवन के कवि हैं। गृह एवं बन्दीगृह सर्वत्र वे हृदय के आराध्य की ही झाँकी उतारते हैं। उनका जो आराध्य व्यक्तिगत जीवन में उन्हें बलिदान और कष्ट सहन की शक्ति प्रदान करता है, वही राष्ट्रीय क्षेत्र में भी। एक 'आराध्य, ही उनके काव्य और समस्त जीवन की ईकाई है—दैनिक जीवन में यदि वह कवि हृदय के दुख-सुख के साथ खेलता है, तो राष्ट्रीय जीवन में कोटि-कोटि मनुजों के हर्ष-विषाद के साथ। उनके आराध्य को हम कृष्ण के रूप में देख सकते हैं—जो हृदय के वृन्दावन में प्रेम की अठखेलियाँ करता है, तो जीवन के रण-संग्राम में सखा एवं सहचर बनकर उत्साह प्रदान करता

है। उस यदुवंशी के होठों पर यदि सम्मोहिनी वंशी है, तो स्फूर्तिशाली पाञ्चजन्य भी। परन्तु, कवि का वह आराध्य चाहे जितना महान हो, उसके लिये तो वह एक 'मानव' ही है—मनुष्यों की भाँति ही उसके भीतर भी सुख-दुख एवं उत्साह है; इसीलिये वह कवि-हृदय के निकट है। यदि वह केवल महान या स्वर्ग का अधिवासी-मात्र होता, तो इस छोटे-से लौकिक घट में समा ही कैसे सकता! उस महान का हृदय तो इसी विश्व की लौकिक सीमा में लहराता रहता है; इसीलिये कवि उसे चाहता है; इसीलिये उसके साथ हँसता-खेलता, रोता-तड़पता एवं अपने कर्म-मार्ग में उद्‌बुद्ध रहता है। यदि वह आराध्य आकाश-सिन्धु की भाँति इस विश्व से परे केवल उर्ध्वलोक में ही अपनी छटा छहराता रहता तो उसके लिये कवि-हृदय में केवल कौतूहल या विस्मय-मात्र जागृत होता, घनिष्ठता या अनन्यता नहीं, उसमें घुल मिलकर एक हो जाने की आकांक्षा नहीं। इसीलिये, तो कवि कहता है—

"अरे अशेष! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना-सा!

ओ, महान (अशेष), तू जिसके कारण महान है तेरा क्रीड़ा-क्रोड़ तो उसी तुच्छ (शेष) की गोदी है।

माखनलालजी के प्रेम की यह थ्योरी अत्यन्त सरल, किन्तु उनके दृष्टिकोण से परिचय न रखनेवालों के लिये अत्यन्त जटिल पहेली है। इस जटिल पहेली के कारण ही उनकी कविताएँ दुर्बोध

एवं अस्पष्ट सी जान पड़ती हैं; और यही कारण है कि बहुत-से लोग उनके भावों को हृदयंगम ही नहीं कर पाते।

माखनलालजी की प्रेमभावना पूर्णत: मानव प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत है, कृष्ण के उक्त स्वरूप का प्रतीक कोई मनुष्य ही उनका आराध्य बनता है। वे कृष्ण के जीवन को आदर्श देवत्व का जीवन नहीं, बल्कि आदर्श मनुष्यत्व का जीवन मानते हैं—जिसमें हमारी ही तरह दुर्बलताएँ और निर्मलताएँ हैं। इसीलिये उन्हें गीता के अलौकिक कृष्ण की अपेक्षा ग्वालबाल के बीच का लौकिक गोपाल अधिक आकर्षक जान पड़ता है, इसलिये नहीं कि वह अपने देवत्व के महान पद से कवि को वरदान देगा, बल्कि इसलिये कि वह मानव-सुलभ दुर्बलता और निर्मलता में 'साझा' ले सकता है। 'साझा' ले सकता है, इसीलिये वह अपना है। वही 'अपना' जब कभी रूठ जाता है, तो कवि कहता है—

"तुम बढ़ते ही चले मृदुलतर जीवन की घड़ियाँ भूले,
काठ छेदने लगे सहस्रदल की नव पखड़ियाँ भूले,
मन्द-पवन सदेश दे रहा, हृदय-कली पथ हेर रही,
उड़ो, मधुप! नन्दन की दिशि में ज्वालाएँ घर घेर रहीं,
तरुण-तपस्वी, आ तेरा
कुटिया में नव-स्वागत होगा।
दोषी, तेरे चरणों पर फिर
मेरा मस्तक नत होगा॥"

एक मधुप के रूप में रूठे हुए हृदय का यह सुन्दर रूपक है—

जो प्रेम-कमल की पंखड़ियों को, एक साथ बिताई हुई उन कितनी कोमल जीवन-घड़ियों को, भूलकर काष्ठ-सी निष्ठुरता में ही अपने आपको केन्द्रित कर रहा है।

पाँच—छः वर्ष पहले, अपने एक लेख में, श्रीनिरालाजी ने, प्रसङ्ग-वश माखनलालजी की कविताओं के विषय में लिखा था—

"कविता के वर्तमान उपासकों में एक गौरव-पद पण्डित माखनलालजी चतुर्वेदी को प्राप्त है।

"कला की प्रदर्शिनी में जाने से पहले उनकी कविता सहृदयता की ओर चली जाती है। जहाँ कला की चकाचौंध नहीं, आँसुओं का प्रस्रवण जारी रहता है। उदाहरण—

"पथरीले ऊँचे टीले हैं, रोज नहीं सींचे जाते,
वे नागर यहाँ न आते हैं, जो ये बागीचे आते,
झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़कर, वनचर भी खा जाते हैं.
शाखा-मृग कन्धों पर चढ़कर भीषण शोर मचाते हैं,
दीनबन्धु की कृपा, बन्धु
जीवित हैं, हाँ, हरियाले हैं,
भूले-भटके कभी गुजरना,
हम वे ही फलवाले हैं!"

❀ ❀ ❀

"बाल बिखरे हुए हँस हँस के गजर दाते हुए
कन्हैया दीख पड़ा हँसता हुआ आते हुए।"

"माखनलालजी की इन मक्खन-सी मुलायम पंक्तियों का

लोगों में बड़ा आदर है। अवश्य इन पंक्तियों का और उनकी प्राय सभी पंक्तियों का दूसरा पार्श्व समालोचक की दृष्टि में बड़ा अन्धकारपूर्ण है ; परन्तु मैं उसकी विशेष आलोचना नहीं करना चाहता। उदाहरण के लिये कुछ ही पंक्तियाँ पेश करता हूँ—"जो टीले पथरीले हैं, उन्हें रोज तो क्या, कभी भी सींचने की जरूरत नहीं। फिर बगीचे में आनेवाले नागर वहाँ नहीं जाते, तो विशेष बुद्धिमत्ता ही प्रकट करते हैं। नागरों के लिये टीले पर क्या रखा है ? क्यों जायँ ? बात यह है कि सब पंक्तियाँ असम्बद्ध हैं—झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़कर वनचर भी खा जाते हैं। यहाँ टीले और नागर दोनों गये, वनचर आये। वनचर के बाद 'भी' कहता है कि वनचर तो खाते ही हैं; किन्तु खेचर, निशाचर और न जाने कितने चर खा जाते हैं। अब इन तमाम वाक्यों का सम्बन्ध बतलाइये कि एक दूसरे से क्या है—कला के विचार से कुछ नहीं।"

माखनलालजी की उक्त जिन पंक्तियों पर निरालाजी को आपत्ति है, कदाचित तुलसी के इस दोहे को पढ़कर अभिप्राय स्पष्ट हो जाय—

"तुलसी बिरवा बाग के
सींचत ही कुम्हलायँ।
राम भरोसे जे रहें
परवत पै हरियायँ॥

इसी प्रकार जंगल में वे पौधे, जिनके लिये न तो कोमल

भूमि है, न कोई सिंचाई-गोडाई ही होती है, पथरीले, ऊँचे, शुष्क टीलों पर आप ही पल्लवित-पुष्पित हो उठते हैं। क्योंकर? विश्व-पालक दीनबन्धु की कृपा से!

माखनलालजी की अधिकांश कविताओं की भाव-भूमि, प्राचीन हिन्दी-कवियों की कविता है। कहीं वह तुलसी से प्रेरित है, तो कहीं रसखान से, तो कहीं कबीर से। हाँ, उस भावुकता का रूप-रंग आधुनिक है। जब वे लिखते हैं—

"बढ़ियों पर महलों को वारूँ"

तब रसखान की ये पंक्तियाँ भी हम गुनगुना उठते हैं—

"या लकुटी अरु कामरिया पर
राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।"

कहीं-कहीं उन्होंने प्राचीन भाव को राष्ट्रीय स्वरूप भी प्रदान कर दिया है, यथा 'पुष्प की अभिलाषा'—

चाह नहीं, मैं सुर-बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना वनमाली!
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृ भूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक॥

ये राष्ट्रीय भाव कदाचित ब्रजभाषा की इस प्राचीन कविता

से प्रेरित होकर उद्‌गीर्ण हुए हैं, जिसे किसी दरबारी कवि ने राजस्तुति में लिखी थी—

सुनो हे विटप हम पुहुप तिहारे श्रहैं,
गखिहौ हमें तो शोभा रावरी बढ़ावेंगे।
तजिहौ हरषि कै तो बिलग न मानें कछू,
जहाँ-जहाँ जैहैं तहाँ दूनो जस गावेंगे॥
सुरन चढ़ेंगे नर सिरन चढ़ेंगे नित,
सुकवि श्रनीस हाथ हाथन बिकावेंगे।
देस में रहेंगे परदेस में रहेंगे काहू,
भेष में रहेंगे, तऊ रावरे कहावेंगे।

माखनलालजी ने इस भाव को एक भिन्न दिशा में गतिमान कर इसे चिर उज्ज्वल कर दिया है।

'मृत्यु' के सम्बन्ध मे माखनलालजी की ये पंक्तियाँ कबीर की शैली पर बड़े अच्छे ढंग से चली हैं—

श्ररी श्रो, दो जीवन की मेल,
सखि, तेरा श्रागम है, 'उनने' मुक्त प्रणय का खेल !
श्ररमानों की फटी चदरिया क्यों बिगड़े खिलने में ?
दो बिछुड़ी पलकों के, श्यामा, दुख क्यों हो मिलने में ?
चल प्यारे से मिलें रँगाली, तू पगली मैं पगली।
तू पीछे मैं श्रागे बहिना, तू पहुँची मैं श्रँगुली।
श्रो मेरे गोरे जीवन की, सुन्दर चादर काली,
श्रो मेरे सौभाग्य-सदन के श्रामन्त्रण की लाली।

पतन, पाप, पीड़ा के पथ के बन्द किये सब द्वार,
जीवन ले जीवन-धन देने, आई तू सुकुमार!
ओ माधव की मधुर पत्रिका के शब्दों की स्याही,
मेरे हित बन गयी सुनहली घड़ियों की तरुणाई।
कह दे जाकर, उनसे, ऐ सखि, लगता जगत अकेला,
कहीं और को मत दे दे मेरी दर्शन की बेला।
जी में यौवन, विरह विकम्पन, बिन्दु-बिन्दु में अर्पण,
नैहर में कब तक दिन बीतें,—आ ले जावे मोहन।

इसी वाणी को निर्गुण कबीर ने यों कहा था—

"नैहर से जियरा फाटि रे।
तनिक घुँघटवा दिखाव सखी री
आज सुहाग की राति रे।"

एक में मिलन की तैयारी है तो दूसरे में प्रिय (परमात्मा) मिलन का सुहाग है।

माखनलालजी के इस ढंग की कविताओं में रहस्यवाद का उत्तम परिचय मिलता है। अपने भाव-विकास में उन्हें अन्य आधुनिक कवियों की भाँति बँगला और अंग्रेजी का साहाय्य न मिलकर चिरपरिचित प्राचीन हिन्दी-कविता से ही सहयोग प्राप्त हुआ—हम कह सकते हैं कि प्राचीन हिन्दी कविता की आराधनामयी आत्मा को उन्होंने खड़ी बोली के कलेवर में अधिष्ठित किया है। यत्र-तत्र उनकी भावाभिव्यक्ति में उर्दू के तर्जेकलाम

का भी असर है और जैसा कि एक बार उन्होंने स्वयं बतलाया था, स्वामी रामतीर्थ की मस्ती का उन पर प्रभाव है।

यह ठीक है कि "उनकी प्रायः सभी कविताओं का दूसरा पार्श्व समालोचक की दृष्टि में बड़ा अन्धकारपूर्ण है।' 'इसका कारण यह है कि माखनलालजी की कविताओं में वैकग्राउण्ड लुप्त रहता है और उनकी कविता आकस्मिक नेपथ्य-वाणी-सी लगती है; भावाभिव्यक्ति की यह सांकेतिक शैली ही उनकी अपनी एक खास विशेषता है, जो हिन्दी-कविता में उनका एक स्वतन्त्र स्कूल बनाये हुए है। उनके स्कूल से प्रभावित तरुणों की संख्या कम नहीं। उनकी कविताएँ, जीवन के किसी-न-किसी भावास्थान की उपसंहार-सी जान पड़ती हैं, जिन्हें हृदयंगम करने के लिये या तो अपनी सहृदयता का सम्बल लेने की आवश्यकता है या उनके निजी दृष्टिकोण से परिचित होने की। कविता में कवि के व्यक्तित्व से भी कभी-कभी परिचित होने की जो बात कही जाती है, वह आधुनिक कवियों में सम्भवतः केवल माखनलालजी के लिये ही संघटित है। एक ओर यदि उनका जीवन ही उनकी कविताओं का भाष्य है, तो दूसरी ओर अन्य कवियों की कविताएँ ही उनके जीवन का भाष्य।। जो वस्तु एक बार देखने में ही रमणीय जान पड़े, उसमें वास्तविक सौन्दर्य्य है-ऐसा नियम नहीं। इसी प्रकार जो वस्तु एकाध बार देखने में सुबोध न जान पड़े, उसमें सौन्दर्य्य का अभाव कह देना युक्तिसंगत नहीं। अतएव, हमें अपनी सहृदयता को कुछ कष्ट देकर ही माखनलाल

जी के भावों के अन्तस तक पहुँचने का प्रयत्न करना होगा ।

माखनलालजी की कविताओं का कोई परिपूर्ण संग्रह अभी-तक प्रकाशित नहीं हुआ है। प्रकाशित कविताओं से भी कितनी ही अच्छी कविताएँ अप्रकाशित हैं। अतएव, उनके सम्बन्ध में यहाँ विस्तार से विचार करना सभव नहीं।

माखनलालजी की कविताओं में एक हूक, एक कसक, एक कराह, सर्वत्र मिलती है। उनकी राष्ट्रीय कविताओं में भी हृदय की एक पीड़ा है, जेल का बन्दी-जीवन भी उन्हें अपने हृदय में सुख दुख की बन्दी स्मृतियों से पूर्ण भावों की ही प्रतिध्वनि देता है।

'कैदी और कोकिला' उनकी एक ऐसी ही कविता—

क्या गाती हो, क्यूँ रह रह जाती हो—कोकिल बोलो तो ?
क्या लाती हो सन्देशा किसका है—कोकिल बोलो तो ?
क्यों अर्द्धरात्रि में विश्व जगाने आयी हो मतवाली—बोलो तो ?

> दूबों के आँसू धोती, रवि किरणों पर,
> मोती बिखराते विन्ध्या के झरनों पर,
> ऊँचे उठने के व्रतधारी इस वन पर,
> ब्रह्माण्ड कँपाते उस उद्दण्ड पवन पर,
> तेरे मीठे गीतों का पूरा लेखा,
> मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा।
> फिर कुहू—अरे क्या बन्द न होगा गाना
> यह अन्धकार में मधुराई दफ़नाना ।

निखालिस राष्ट्रीय भाव की कविताएँ उन्होंने बहुत नहीं

लिखी हैं। कारण, उसकी पूर्त्ति तो बाह्य सक्रिय जीवन-द्वारा होती रहती है; किन्तु आन्तरिक जीवन तो अपनी पीड़ाओं में सदैव अभावमय—अतृप्तिमय—ही बना रहता है।

कर्मक्षेत्र में तो मनुष्य वाणी के साथ जीवन को, गान के साथ बलिदान को चाहता है। वह गान, वह बलिदान भरने-जैसा, जो समष्टि के लिये अपने को मिटा देता है। 'सतपुड़ा शैल के एक भरने' को देखकर कवि कहता है—

> लय मेरी प्रलय न करती तरुणों के हृदय उतरके
> तू कल-कल कहला लेता, पक्षी-दल पागल करके।
> मेरी गरार तरुणा पर वे मस्तक डोल न पाते
> तेरी गति पर तृण-तृण हैं अपनी उँगनियाँ हिलाते।

चतुर्वेदीजी की छोटी-छोटी पट्पदियों में बड़ा ओज रहता है; हाँ, चतुर्वेदीजी जितने भाव-शिल्पी हैं, उतना शब्द-शिल्प की ओर उनका ध्यान नहीं। अपनी कविताओं में वे अधिकतर उर्दू शब्दों का प्रयोग तो करते हैं; किन्तु कभी-कभी बहुत चलते शब्दों का भी प्रयोग कर देते हैं, जो कि किन्हीं भागते हुए क्षणों के ही 'मूड' के द्योतक हैं। गद्दार, सनाका, समता-बारूद, ये शब्द-प्रयोग अपना काव्य-सौन्दर्य खो देते हैं, पद्य में गद्य के प्रतिनिधि हो जाते हैं।

चतुर्वेदीजी भाव-प्रधान कवि होते हुए भी राष्ट्रीय कवि के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं और अनजान लोग उनकी सभी कविताओं में से राष्ट्रीयता को खींच निकालने का कठिन प्रयत्न

करते हैं। उनकी राष्ट्रीय कविताओं का अन्धाधुन्ध अनुकरण भी हुआ है।

काव्य के व्यापक अस्तित्व से अपरिचित जन, राष्ट्रीयता में ही कविता की इति श्री समझते हैं। अतएव, उस राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में यहाँ कुछ शब्द—

जिस प्रकार रवि बाबू के कोमल प्रभाव से हमारे नवयुवकों में छायात्मक भावों की प्रेरणा आयी, उसी प्रकार क़ाजी नज़रुल इस्लाम के विप्लव-घोष से राष्ट्रीय कविताओं की स्फूर्ति भी जगी है। काजी नज़रुल न केवल अपनी कविताओं से, वल्कि अपने नित्य जीवन के भीतर से भी समाज की अंध-रूढ़ियों और राष्ट्र की पंगु दुर्वलताओं के विकट विद्रोही हैं। विद्रोह के भैरव स्वर को उन्होंने विगत यूरोपीय महायुद्ध मे स्वयं भाग लेकर तोपों की गड़गड़ाहट में सुना है। उसीने उनकी कविताओं में अपना गगनभेदी अन्तर्नाद भर दिया, जिसने फूलोंकी सेज पर सोनेवाले नवयुवकों को भी जगा दिया। नज़रुल का लक्ष्य है—जीवन की भस्मसात चिनगारियों को जाज्वल्यमान कर देना, विश्व की प्रत्येक गति में आत्मा की अमोघ शक्ति को जगा देना; संकुचित दृष्टि को अनन्त आकाश की भाँति विशाल बना देना।

राष्ट्रीय कविताओं के क्षेत्र में आदरणीय गुप्तजी को पर्याप्त श्रेय मिल चुका है। उनके वाद, माखनलालजी, नवीनजी और सुभद्रा कुमारीजी की कविताएँ भी प्रसिद्ध ही हैं।

हमारे देश में चन्द वरदाई तथा भूषण के समय से लेकर

जातीय पुकार के रूप में राष्ट्रीय कविताओं का उद्‌बोधन सुनायी देता आ रहा है—भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और भिन्न-भिन्न समस्याओं के अनुसार। ऐसी कविताओं को भी हम एक प्रकार की समस्यापूर्ति ही कह सकते हैं। हाँ, यह शब्दों और पंक्तियों की नहीं, बल्कि एक ख़ास दिशा के भावों और विचारों की समस्यापूर्ति है। राष्ट्रीयता के भिन्न-भिन्न कालों की सीमित भावनाओं की परिधि के अनुरूप लिखी गयी कविताएँ अपने समय के साहित्य और इतिहास की द्योतक हो सकती हैं, परन्तु विश्व-साहित्य की अक्षय निधि बनने के लिये उन्हें अपनी सीमित परिधि से ऊँचा उठना होगा; उनके शब्दों में विश्वजनीन भावों को भरना होगा। एक निश्चित परिधि में केन्द्रित राष्ट्रीय कविताओं का साहित्यिक महत्व बदलता रहता है। कारण, परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार एकदेशीय राष्ट्रीयता के भाव भी बदल जाते हैं। ऐसी दशा में वे कविताएँ साहित्य के इतिहास में ही अपना अस्तित्व रख पाती हैं, साहित्य के कण्ठ में नहीं। केवल देश-काल की एक ख़ास भावना को सामने रखनेवाली कविताओं को मैं तत्कालीन समय का पैम्फलेट समझता हूँ, जो कि विद्युत की तरह चमककर सामयिकता के बदलते हुए बादलों में छिप जाती हैं। किन्तु जो भाव राष्ट्रीयता के सीमित शरीर में आकर अपनी चिरकालीन विश्व-व्यापकता के कारण शाश्वत आत्मा की भाँति अमर हो जाते हैं, वे एक देश, एक काल में उत्पन्न होकर भी अखिल देश, अखिल काल के गीत बन जाते हैं। यथा—

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ सुख दुख से !

यह भारत के व्यथित कण्ठ की वाणी होकर भी अखिल विश्व के आर्त्त कंठ की वाणी है। यह देशकाल की लघु सीमा से मुक्त होकर अखिल व्योममण्डल में गूँज उठती है।

एक दिन बंगाल के किसी कवि ने गाया था—

"बंग आमार देश, बंग आमार जननी"

तब यह उद्‌गार बंगाल के कंठ तक ही गूँजकर रह गया। किन्तु, बंकिम की प्रखर वाणी—

त्रिंश कोटि कंठ कल-कल निनाद कराले
द्विन्त्रिंश कोटी भुजैर्धृत खर करवाले
के बले मा ! तुमि अबले ?

यह वाणी, बंगाल के नद, नदी, गिरि-गह्वरों को पार करती हुई, त्रिंशकोटि के कण्ठों से निनादित होकर हिमालय के उत्तुंग गिरि-शृङ्गों पर भी गूँज उठी। इसी प्रकार कविता के भाव अपनी व्यापकता में जितनी ऊँचाई तक उठेंगे, उतनी ही दूर तक वे आकाश को छू लेंगे।

एकांगिनी राष्ट्रीय भावनाएँ, देश-काल के परिवर्तन के साथ-साथ आगे की अमर भावनाओं के लिये अपना स्थान रिक्त कर जाती हैं। देश-काल की रेखाओं को पार कर मानव-हृदय के

वे ही चिरन्तन भाव प्रत्येक युग, प्रत्येक काल में अजर-अमर रहते हैं, जिनके साथ अखिल विश्व के सुख एवं हर्ष-विषाद के तार बजते रहते हैं। अपने स्वाधीन दिनों में मनुष्य अपने पराधीन युग की राष्ट्रीय भावनाओं को भूल सकता है; परन्तु वह अपने सुख-दुख, हर्ष-विषाद, प्रेम-प्रणय, मिलन-विरह, आह्लाद-अवसाद एवं क्षण-क्षण के आन्तरिक घात प्रतिघात को नहीं भूल सकता। इसी में तो उसका चिरन्तन जीवन है, चाहे वह किसी भी देश, किसी भी युग का प्राणी क्यों न हो। आज कितने दिन, कितने वर्ष बीत गये, अकबर और शाहजहाँ की राजनीति, रण-कुशलता और विश्व-विजयिनी वीरता केवल इतिहास के पन्नों में उनकी राजकीय प्रवृत्ति के अध्ययन की सामग्री मात्र रह गयी हैं, अखिल जगजीवन के प्राणों की सम्पत्ति नहीं। किन्तु, वह यमुना के सूने तट पर शोभायमान, मानव-हृदय की अमर प्रणय-वेदना का प्रतीक, ताजमहल, जिसके मर्म तक पहुँचकर एक नवोदित हिन्दी-कवि ने कहा है—

> काल-पृष्ठ पर लिखे हुए तुम
> अमर काव्य हो अय पाषाण!
> शब्दहीन संगीत तुम्हारा
> सुन रो उठते मेरे प्राण—

वह करुणा की रानी का ताजमहल, अखिल देशों, अखिल दिशाओं से आनेवाले प्रेम-पथिकों के स्नेहाकर्षण का ध्रुवतारा बन गया है। क्यों? उसमें किसी एक देश या एक सम्राट् के

हृदय की वेदना नहीं, वह तो लाख-लाख मर्माहत हृदयों की प्रेम-समाधि है। जिसे हम छायावाद कहते हैं, उसमें मानव-हृदय की ऐसी ही व्यापक भावनाओं का गान है जो जीवन के चिर-न्तन स्रोत में गूँजता रहता है। वह देश-काल के उपकूलों में उठता हुआ, विश्व-चेतना का कलरव है।

चतुर्वेदी की कविताओं में भी विश्वचेतना का यह कलरव सुना जा सकता है। उनकी वे राष्ट्रीय कविताएँ भी किन्हीं साम-यिक घटनाओं तक ही केन्द्रित नहीं, वल्कि उनमें एक चिरकालीन व्यापकता भी है।

हाँ, कविता की सीता राजनीति को भी जीवन की भिक्षा दे सकती है, परन्तु अपनी कला-मर्यादा की रेखा के भीतर रहकर ही; इसके बाहर निकलते ही राजनीति कविता को हर ले जायगी। और आज सचमुच राजनीति कविता को हरे लिये जा रही है। कलाकारों को इसकी रक्षा का ध्यान रखना है।

कवि के साथ ही चतुर्वेदीजी एक कुशल पत्रकार तथा ओजस्वी वक्ता हैं; राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता हैं। आपके वार्त्तालाप और वक्तृता दोनों में मनोहर गद्य-काव्य का रस रहता है। पत्रकार-कला में आपकी अपनी स्वतन्त्र विशेषता है। कविताओं के अतिरिक्त कुछ छोटी-छोटी सुन्दर कहानियाँ और गद्य-काव्य भी आपने लिखे हैं। रंगमंच के उपयुक्त 'कृष्णार्जुन युद्ध' नामक एक नाटक भी। जन्म-सम्वत् १९४५।

सूर्य्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

मेरे उस बाल्ययुग में, जब कि नवीन जागरण की किरणें मेरी अनजान आँखों तक नहीं पहुँच सकी थीं, उन दिनों जिन दो नूतन कवियों ने अपनी प्रतिभा से मेरे हृदय को स्पर्श किया था, वे हैं—निराला और पन्त। पन्त की कविता में प्रभात की गुलाबी छटा मिली तो निराला की कविता में दोपहरी की चमक। एक में रमणीयता है, दूसरे में प्रखरता।

निरालाजी हिन्दी-कविता की बाह्य कला में स्वतन्त्रता के एक सूत्रधार हैं। निःसंदेह वे कवि से अधिक 'टेकनीशियन' हैं। हिन्दी में मुक्तछंद का प्रवर्त्तन उनकी सर्वोपरि विशेषता है। मुक्त-छन्द कविता में भाव प्रवाह को एक विशेष गति प्रदान करता है, जो कि बन्धनमय छन्दों में सुलभ नहीं। पन्तजी के शब्दों में— "स्वच्छन्द छन्द ध्वनि अथवा लय (Rhythm) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर नाद में तरता, चढ़ाव में मन्दगति, उतार में क्षिप्रवेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता-छाँटता, अपने लिये ऋजु-कुञ्चित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन विवर्तन के अनुरूप संकु-

चित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ-गति बदलता रहता है।" अपने इसी विचार के अनुसार पन्तजी ने 'उच्छ्वास' शीर्षक कविता को स्वच्छन्द छन्द का रूप दिया। उसने छन्दोबद्ध होकर भी, पंक्तियों के प्रसार में भावना के अनुसार लघु-दीर्घ मात्राओं की स्वतन्त्रता प्राप्त की है। और, पन्तजी के विचार से—"अन्य छन्दों की तरह मुक्तकाव्य भी हिन्दी में ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक-संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है।" किन्तु, पन्तजी के मुक्तकाव्य से निरालाजी का 'स्वच्छन्द छन्द' भिन्न है—उनके लिये "मुक्तछन्द तो वह है जो छन्द की भूमि में रहकर भी मुक्त है। मुक्तछन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।" जिस प्रकार निरालाजी ने स्वच्छंद छन्द की सृष्टि हिन्दी में की है, उसी प्रकार की एक मुक्त सृष्टि, स्वर्गीय गिरीशचन्द्र घोष महोदय वर्षों पहले बँगला-साहित्य में भी कर गये हैं। जान पड़ता है, इस दिशा में वे गिरीश बाबू के ही पद-चिह्नों पर चले हैं। माइकेल के 'मेघनाद वध' के अतुकान्त को उसके बँगला पदविन्यास के अनुसार हिन्दी-पद-विन्यास का रूप देते समय, गुप्तजी ने जिस प्रकार उसे हमारे यहाँ के छन्द से वेष्टित किया है, उसी प्रकार गिरीश बाबू की मुक्त शैली को निरालाजी ने हिन्दी के अनुसार एक रूप दिया है।

माइकेल ने जब बँगला में पहले पहल अपना अमित्राक्षर छंद लिखा, तब उनके मित्रों ने उसकी गठन-प्रणाली के विषय में

उनसे जिज्ञासा की थी। माइकेल ने उत्तर में कहा था-"इसमें पूछने और बताने की कोई बात नहीं। इसकी आवृत्ति ही सब बातें बता देगी। जो इसे हृदयंगम करना चाहें, वे इसे बार-बार पढ़ें। बार बार आवृत्ति करने पर जब उनके कान अभ्यस्त हो जायँगे तब वे समझेंगे कि अमित्राक्षर क्या वस्तु है।" यति के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था-"जहाँ-जहाँ अर्थ की पूर्णता और स्वास का पतन हो, वहीं-वहीं इसकी यति समझनी चाहिये"-कुछ इसी तरह की बात निरालाजी के स्वच्छन्द छन्द के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। क्योंकि, दोनों के छंद-गठन में भिन्नता होते हुए भी, उनमें प्रवाह एवं गति ही प्रधान है।

निरालाजी ने दो तरह के मुक्त छंद लिखे हैं—तुकान्त और अतुकान्त। तुकान्त मुक्त छंद द्वारा मुक्तक काव्यों को भावस्वातन्त्र्य मिलता है तो अतुकान्त मुक्त छंद द्वारा गीतिनाट्यों में वाक्-स्वातन्त्र्य जैसे, निरालाजी के 'पंचवटी-प्रसंग' में। जो कविताएँ उन्होंने तुकान्त लिखी हैं, वे छंदोबद्ध कविताओं की तरह गुनगुनाई जा सकती हैं। उनकी तुकें उनमें झनकार पैदा कर देती हैं। निरालाजी अपनी ऐसी कविताओं को बड़े सुन्दर ढंग से गाते हैं, उनके स्वरों में गूँजकर उनके मुक्त छंद हृदय को लुभाते हैं।

परन्तु, अतुकान्त मुक्त छंद निरालाजी ने केवल पढ़ने के लिये लिखा है। उसके पढ़ने की एक खास कला है; कोरे गद्य की तरह नहीं, बल्कि बातचीत की शैली को थोड़ा पद्यवत् कर

देने से ही उनके अतुकान्त मुक्त छंद का सौन्दर्य खिल पड़ता है। उसमें 'आर्ट आफ रीडिंग' का आनन्द मिलने लगता है। निराला जी ने इस मुक्त छंद की सृष्टि, रंगमंच की दृष्टि से की है। कहीं-कहीं वर्णनात्मक कविताओं में भी इसका उपयोग किया है, जो कि गीतिनाट्य के मुक्तक रूप के समान हैं।

हाँ, कहीं-कहीं उन्होंने अपने छन्दों को इतना स्वच्छन्द कर दिया है कि उनमें स्वच्छन्दता का सौन्दर्य नष्ट हो गया है। अति स्वच्छन्दता के कारण ही उनकी पंक्तियाँ कहीं-कहीं गद्य-सी हो गयी हैं और कहीं-कहीं गति-भंग भी हो गया है, जिसके कारण ही स्वरपात देना पड़ता है।

निरालाजी जीवन की चतुर्दिक भावनाओं के कवि हैं; किसी एक दिशा के नहीं; बल्कि देश, समाज, मानव-हृदय एवं प्रकृति-जगत सभी दिशाओं के भाव उनकी कविताओं में हैं।

वेदान्त उनका प्रिय विषय है, कविता मे भी, लेखों में भी। हिन्दी में वे स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त के साहित्यिक प्रतिनिधि हैं। बंगाल में जन्म होने के कारण, साथ ही वहाँ के वायुमंडल में अधिक काल तक साँस लेने के कारण, वे स्वभावतः स्वामी विवेकानन्द के ही वेदान्त के संसर्ग मे आये। अपनी रुचि के अनुकूल ही, कलकत्ता में रामकृष्ण-मठ के 'समन्वय' मासिक पत्र का सम्पादकीय सुयोग मिल जाने से उन्हें अपनी वेदान्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रथम सुअवसर भी मिला। तभी से हिन्दी-संसार उनसे परिचित है।

"निरालाजी एक वास्तविक दार्शनिक व्यक्ति हैं।" —जीवन के कर्म कोलाहल में लगे हुए निरालाजी के दैनिक स्वरूप को देखकर, अधिकांश लोगों को इस उक्ति में अत्युक्ति जान पड़ेगी। इसका कारण, उनके बहिरंग और अन्तरंग जीवन में एक साथ ही दो ऐसी विरोधी धारायें बहती हैं कि सर्वसाधारण के लिये निरालाजी, दर्शन की जटिल ग्रन्थि की ही भाँति एक जटिल पहेली बन जाते हैं। किसी उपन्यास के गहन चरित्र की भाँति वे भी हमारे मनन की वस्तु बन जाते हैं। मनस्तत्व से अनभिज्ञ मेरे-जैसे पारखी (!) उन्हें समझने में कभी-कभी भूल भी कर सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त के दो स्वरूप हैं—शक्ति और सेवा एवं करुणा। निरालाजी की कविताओं में भी यही बातें देखी जा सकती हैं। यथा—

> एक बार बस और नाच तू श्यामा !
> कितने ही हैं असुर
> चाहिये कितने तुमको हार !
> कर-मेखला मुण्डमालाओं से—
> बन मन-अभिरामा,
> एक बार बस और नाच तू श्यामा !
>
> —इत्यादि

विश्व की आसुरी प्रभुता के प्रति सिंहवाहिनी दुर्गा का जो आक्रोश है वही निरालाजी की इन पंक्तियों में भी—

मैंने 'मैं' शैली अपनाई,
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे
झट उमड़ वेदना आई,
उसके निकट गया मैं धाय
लगाया उसे गले से हाय!

—इत्यादि

अखिल विश्व में 'मैं' ही व्याप्त हूँ, विश्व मेरा ही विराट रूप है, एक रूप में अनेक होकर मैं ही सबमें दुखी-सुखी हूँ। वेदान्त के इसी भाव के अनुसार कवि ने—"देखा दुखी एक निज भाई"। इन पंक्तियों में निरालाजी कवि और दार्शनिक दोनों ही एक साथ हैं। इनमें उनका हृदय और मस्तिष्क, दोनों हैं। निराला जी का हृदय, कवि है; मस्तिष्क, दार्शनिक है। भिक्षुक, दीन, विधवा, संध्या, यमुना, सरोज-स्मृति जैसी कविताओं से जहाँ उनकी करुण तथा कोमल अभिव्यक्ति का परिचय मिलता है वहीं उनका हृदय है; और जहाँ वे तत्वदर्शी बन जाते हैं वहाँ उनके उर्व्वर मस्तिष्क का ही परिचय मिलता है। वहीं वे दुर्बोध भी हो जाते हैं।

उनके हृदय और मस्तिष्क की ये दो भिन्न भावनाएँ कभी तो अलग-अलग और कभी एक में मिली हुई दीख पड़ती हैं। यही

बात उनके वार्त्तालापों में भी है, और यही उनके जीवन में भी, लेखों में भी, कविताओं में भी।

निरालाजी की भाषा संस्कृत से परिपूर्ण और मांसल है, हिन्दी के कलेवर में वह उसीकी होकर खिलती है। अवश्य ही वह कहीं-कहीं अति सघन संस्कृतप्राय भी हो जाती है; परंतु उसकी सुचारुता नष्ट नहीं होती। कभी-कभी आप अपने संस्कृत-शब्द-समूह के बीच उर्दू शब्दों का भी प्रयोग कर देते हैं, जो कि कहीं तो भाषा में जान ला देते हैं तो कहीं हलके भी पड़ जाते हैं। वाक्य-विन्यास पर बँगला के तर्ज का प्रभाव स्वभावतः पड़ा है।

निरालाजी की कविताओं में पौरुष है जो कि उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही है। उनकी शृंगारिक कविताओं में भी इसी पौरुष का परिचय मिलता है। उनमें जो कोमलता है भी वह मानो लोहे की चादर का लचाव है।

"वेदान्त कवि का प्रिय विषय है; इसलिये उनकी रचनाओं में फिलॉसफी का समावेश अनिवार्य रूप से रहता है। उनकी आकृति, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, बातचीत, सब वेदान्तमय हैं, यहाँ तक कि उनकी बनाई हुई सुरती में भी वेदान्त का बिना बुलाये प्रवेश हो ही जाता है।"

"निरालाजी के लिये यह जीव-जगत मिथ्या है, उनकी ईकाई वही 'शाश्वत-ज्योति' है, जो उनकी कविता और उनके दार्शनिक, सामाजिक, कथात्मक विचारों के मूल में है।"

दार्शनिकता जहाँ विचार, विश्लेषण अथवा तत्त्वज्ञान के रूप

में न आकर भावरूप में आती है, वहाँ वह कविता में खिल पड़ती है। परन्तु, कविता में जब दार्शनिकता भावरूप न होकर तत्त्वरूप में सम्मिलित होती है तब वह कविता के लिये भारी पड़ जाती है। उस समय कवि 'कवि' न रहकर 'ज्ञानी' बन जाता है। संतकाल के कवियों में कबीर के सम्बन्ध में इसीलिये तो यह प्रश्न बना हुआ है कि वे कवि थे अथवा ज्ञानी ? परन्तु, कबीर वस्तुतः ज्ञानी और कवि दोनों ही थे—जहाँ उन्होंने अपनी दार्शनिकता को भाव का मनोहर सुघर रूप दिया है (यथा—'सज ले शृंगार चतुर अलबेली' या 'चन्दन काठ क बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो।')—वहाँ वे कवि जान पड़ते हैं ; और जहाँ उन्होंने अपने ज्ञान का परिज्ञान कराया है—(यथा—'यहि विधि जीव का भरम न जाई' इत्यादि)—वहाँ वे उपदेशक या फिलासफर से जान पड़ते हैं।

बात यह है कि तत्त्व-निरूपण काव्य की अपेक्षा गद्य का अधिक उपयुक्त विषय है, जिसमें बुद्धि के वैभव का प्रशस्त परिचय मिलता है। निरालाजी ने अपने दो प्रकार के मुक्त छंदों में अपनी दार्शनिकता का परिचय दिया है। तुकान्त मुक्त छंद में भावमय तथा अतुकान्त मुक्त छंद में ज्ञानमय। अतुकान्त मुक्त छंद प्रायः गद्य-काव्य है ; इसीलिये उसमें उनकी ज्ञान गरिमा 'भारी' नहीं हो पाती। परन्तु, तुकान्त मुक्त छंद, अथवा कहीं-कहीं अपने गीतों में भी, जहाँ उन्होंने उस ज्ञान के गुरुत्व को प्रतिष्ठापित करना चाहा है, वहाँ वह निस्सदेह बोझिल और शुष्क हो गया है।

पन्त की 'गुञ्जन' की दार्शनिक कविताओं में भी भाव और ज्ञानपक्ष दोनों साथ-साथ हैं; अतएव जहाँ एक ओर उनका भाव-सौन्दर्य्य हृदय के लिये सहज गम्य है, वहाँ दूसरी ओर विचार पक्ष मस्तिष्क से बौद्धिक शक्ति का तक़ाज़ा करता है।

निरालाजी विशेष रूप से हमारे साहित्य में सन् १९२३ में आये—उस राष्ट्रीय उथल-पुथल के युग में ही उन्होंने साहित्यिक उथल पुथल की थी। उन्हीं दिनों कलकत्ते से साप्ताहिक पत्र 'मतवाला' प्रकाशित हुआ था। उसमें दो-तीन वर्ष तक अविराम, धारावाही रूप से आपकी कवितायें रंगीन मुख-पृष्ठ पर प्रति सप्ताह प्रकाशित होती रहीं। उन रंगीन मुख पृष्ठों ने हिन्दी-कविता में भी एक निराला रंग ला ही दिया। मुझे वे दिन याद हैं जब एक ओर वर्षों के संचित उल्लास से मानो बाँध तोड़कर निर्बन्ध निर्झर की भाँति उनका काव्य-प्रवाह उमड़ता हुआ बह रहा था, दूसरी ओर विकट आलोचनाओं के शिलाखण्ड उस गति का उपहास कर रहे थे। उन दिनों प्रथम-प्रथम निराला के उन्मुक्त काव्य पुलिन पर हम तीन अबोध खद्योतों—(मैं, पद्म और विजय)—ने ही अपनी क्षीण आभा का परिचय दिया था। तब से कितने वर्ष बीत गये, और आज, निराला की कविताएँ हमारे गंभीर विचार की सामग्री हैं।

निराला की कविताओं में संस्कृत की आत्मा, हिन्दी का कलेवर और बँगला का आच्छादन तथा अँग्रेजी की लाक्षणिकता है। इसीलिये, यदि उसमें एक ओर आर्य्य संस्कृति की प्राण-

प्रतिष्ठा है तो दूसरी ओर बँगला तथा अँग्रेजी की विकसित काव्यकला की अभिव्यक्ति।

निराला की कविताओं में भावों का विकास बड़े ही क्रमिक ढंग से होता है—जिस प्रकार फिल्म मे प्रत्येक पद-निक्षेप का स्पष्ट परिचय मिलता है, उसी प्रकार उनके काव्यचित्रों में भी। 'सन्ध्या सुन्दरी' शीर्षक कविता इसका एक सुन्दर उदाहरण है।

पन्तजी यदि शब्दों की ध्वनि से भावों को मूर्त्त रूप दे देते हैं तो निरालाजी वाक्यों के प्रवाह से वातावरण को।

दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण, निरालाजी की कविताओं में विषय-प्रतिपादन की अंकगणित-सी सचेष्टता भी दीख पड़ती है। यह सचेष्टता वेदान्ती कविताओं में तार्किक रूप में प्रकट हुई है तो किन्हीं प्राकृतिक कविताओं में भौगोलिक रूप मे। इसी कारण 'वन-कुसुमों की शैय्या' शीर्षक कविता की आरंभिक भूमिकापूर्ण पंक्तियाँ भौगोलिक-सी हो गयी हैं। उनकी कई कविताओं में ऐसा जान पड़ता है मानों पाण्डित्य ने कला का पाणिग्रहण किया है।

कवि की कविताओं में यत्र-तत्र सांसारिक अनुभवों के भी उद्गार हैं, उनमें एक ओर करुणा की कोमल साँस है तो दूसरी ओर हृदय का दुर्द्धर्ष विद्रोह। 'विधवा', 'भिक्षुक', 'स्वप्न-स्मृति' में 'कवि-हृदय के करुणतम चित्र हैं, तो 'आवाहन', 'जागो फिर एक वार', 'महाराज शिवाजी का पत्र,' में उसके भैरवी भाव। रसोद्रेक में कवि की लेखनी सक्षम है। कवि की जो लेखनी एक ओर कापुरुषता को ललकार कर कहती है :—

"जागो फिर एक बार
समर में अमर कर प्राण
गान गाये महासिन्धु-से
सिन्धु - नद तीरवासी !—
सैन्धव तुरङ्गों पर
चतुरग चमूसग ;
"सवा सवा लाख पर
एक को चढाऊँगा,
गोविन्दसिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।"

वही लेखनी खूब छककर मधु में घुली "होली" के शृंगाररस में रँगरेली भी करती है।

सम्पूर्ण लौकिक रसों के ऊपर कवि का अलौकिक वेदान्त रस है। और अपने मुक्त छंद की भाँति ही मानव को वह उसके मुक्त स्वरूप का भी स्मरण दिलाता रहता है—

"मुक्त हो सदा ही तुम
बाधा-विहीन बन्ध छन्द ज्यों
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द रूप।"

निरालाजी ने,अपने निर्बन्ध छन्द के अतिरिक्त बन्धनमय छंदों में भी अपने कवित्त्व का मनोहर परिचय दिया है—'यमुना' और 'स्मृति' के अतिरिक्त 'वासन्ती' एवं 'वसन्त-समीर' में उनका

मधुर भाव-संगीत है। आपकी कुछ गीति-कविताएँ भी मनोहर हैं। हिन्दी में इन दिनों, शताब्दियों बाद, फिर गीतिकाव्य की सृष्टि हो रही है ; अतएव उसके सम्बन्ध में यहाँ दो शब्द—

रवि बाबू की गीताञ्जलि को जब हम गुनगुनाते हैं, तब यह विचार हमारे हृदय में उठता है कि गीतों के भाव चाहे जितने ऊँचे अथवा रहस्यमय हों; किन्तु शब्द और गीत सहज प्रवाह-शील होने चाहिये। संगीत ही तो हृदय की एक ऐसी प्रिय वाणी है, जहाँ हमे भावों के सरोवर में कुछ देर तीर्थ-स्नान करने का सुयोग मिलता है। गीतों में अधिक सामासिक शब्द भार-स्वरूप हो जाते हैं और उनका प्रवाह रुक एवं रुद्ध हो जाता है।

कविताओं के अतिरिक्त निरालाजी ने कहानियाँ, उपन्यास और निबन्ध भी लिखे हैं। निस्संदेह निरालाजी में कथा-सृष्टि की भी सुन्दर क्षमता है, किन्तु आपका गद्य क्लिष्ट न होते हुए भी प्राय. अस्पष्ट हो जाता है, मानो कुहरे के धूमिल आच्छादन में उनके कला की किरणें फूट रही हों। 'प्रसाद' की तरह सम्भवतः उनकी भाषा भी 'मूड' के अनुसार ही चलती है। जहाँ कहीं भाषा अपनी सुन्दरता में निखर पड़ी है, वहाँ वह उनके अच्छे 'मूड' का द्योतक है। आप एक ललित-कण्ठ गायक और वादक हैं। व्याख्यानदाता भी।

आपके 'परिमल' नामक काव्य-संग्रह से पाठक परिचित ही हैं। इधर आपकी कुछ और कविता पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं— गीतिका, अनामिका, तुलसीदास। कथा-कृतियाँ ये हैं—अप्सरा

अलका, प्रभावती, लिली, कुली भाँट, इत्यादि। निबन्ध-संग्रह, प्रबन्ध-पद्म।

निराला का बाह्य रूप जितना ही भीमाकार है, अन्तर उतना ही प्रेममय सुकुमार। उनके शरीर के सुदृढ़ दुर्ग में पद्मिनी की ही भाँति एक कोमल सहृदयता सुरक्षित है। हिन्दू-संस्कृति के आप परम भक्त हैं।

निरालाजी की जन्मभूमि बंगाल है। इनके पिता उन्नाव (यू० पी०) के गढ़ाकोला गाँव के निवासी थे; किन्तु नौकरी करने के कारण बंगाल के महिषादल स्टेट में बस गये थे; अतएव, वहीं इनका वंश विस्तार हुआ।

बंगाल में उत्पन्न होने के कारण, इनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रारम्भ, बँगला और संस्कृत से हुआ था। अतएव, प्रारम्भ में आप संस्कृत और बँगला में ही कविता लिखा करते थे; पर बड़े होने पर इनका स्वाभाविक प्रेम हिन्दी पर हुआ। हिन्दी इन्होंने अपनी स्व० धर्मपत्नी द्वारा सीखी। इनकी धर्मपत्नी नित्य रामायण का पाठ किया करती थीं। उसीके प्रभाव से इन्होंने भी हिन्दी की शिक्षा प्राप्त की। रामायण ही एक तरह से निरालाजी के हिन्दी-ज्ञान का गुरु है।

आपका रचना-काल सं० १९७२ से प्रारम्भ होता है। 'जुही की कली' और 'अधिवास' इनकी प्रारम्भिक उत्तम रचनाएँ हैं। जन्म सं० १९५५।

सुमित्रानन्दन पन्त

> "छवि की चपल उँगलियों से छू
> मेरे हृत्-तंत्री के तार,
> कौन आज यह मादक अस्फुट
> राग कर रहा है गुञ्जार!"

द्विवेदी-युग में, जब कि ब्रजभाषा और खड़ी बोली का वाद-विवाद चल रहा था और उस युग के नवयुवक (और आज के वयोवृद्ध) कवि खड़ी बोली के प्रोत्साहन के लिये संलग्न थे, उस समय १८-१६ वर्ष का एक किशोर कवि अपने ही हृदय के नीरव एकान्त मे, आप ही आप अपनी सौन्दर्य-कल्पना के अनुरूप, खड़ी बोली को रूप-रङ्ग देकर उसके अन्तरतम मे मधु गन्ध भर रहा था; अपने ही क्रीड़ा-कौतूहल, हास-विलास एवं स्नेह-पुलक से उसे एक जीवन दे रहा था। वही किशोर कवि आज अपनी कल्पनाओं और भावनाओं के साथ ही तरुण होकर शत-शत भावुक हृदय नवयुवकों के स्नेहाकर्षण का केन्द्र-बिन्दु बन गया है। श्री निरालाजी के शब्दों में—"आज उसीकी प्रतिभा के रूप-रंग, मधु-गंध और भावोच्छ्वास की प्रशंसा से प्रतिमुख मुखर है!"—वह कौन है?—श्री सुमित्रानन्दन पन्त।

पन्तजी मुख्यत प्राकृतिक सौन्दर्य के कवि हैं। मनुष्यों की भाँति ही प्रकृति का भी अपना एक संसार है—मानव-जग की भाँति ही उसका भी एक रूप-लावण्य, हास-विलास, क्रीड़ा-कौतूहल है। उसी प्राकृतिक विश्व की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म लीलाओं तथा उसके एक-एक नयनाभिराम दृश्यों का पन्त की कविताओं मे अलबम है।

हमारे कवि के जन्म के दिन ही उसके नन्हें कोमल हाथों से माँ का स्नेहाचल छूट गया था। मातृ-विछोह की वही अज्ञात अनुभूति मानो कवि की इन पंक्तियों में है—

"खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण।"

परन्तु, उस मातृ-अचल के करुण अभाव में भी प्रकृति-जननी ने अपने स्नेह-स्पर्श से उसके हृदय को सजल मधुर कर दिया।

मनुष्य जब संसार को मा की गोद में बैठकर देखता है, तभी वह कवि हो जाता है। वह मा कौन है?—गोद में लेकर हलराने दुलरानेवाली वह वात्सल्यमयी जननी ही केवल मा नहीं है। वह तो जगज्जननी प्रकृति की एक प्रतिनिधि-मात्र है, जो अपनी अमृत-घूँटी पिलाकर उस विश्व-जननी की सरसता, मधुरता, सुन्दरता हमारे हृदयों और प्राणों में भर देती है। किन्तु, मनुष्य ज्यों-ज्यों वयस्क होता जाता है, उसकी आँखों पर धीरे-धीरे भौतिकता का मोटा पर्दा पड़ता जाता है, और उसकी स्थूल दृष्टि उस चिर-आनन्दमयी प्रकृति-जननी को भूल जाती है। कवि

उस लोक-कल्याणी को नहीं भूलता। वह उसकी स्नेह-गोद में चिरन्तन एक नित्य नवीन शिशु की तरह खेला करता है। वह ऐसे गीत गाता है, जिनमें प्रकृति के प्रेम और सौन्दर्य का सन्देश रहता है। उसे सुनकर कठोर पत्थरों से उठी हुई आडम्बर पूर्ण अट्टालिकाओं से विरत होकर सांसारिक जन प्रकृति के कछारों और कुंजों में अपने संतप्त हृदय को सुशीतल करने के लिये दौड़ पड़ते हैं। यदि प्रकृति के ये लाड़ले शिशु (कवि) कभी-कभी संतप्त संसार में अपनी हिम-जल-जैसी शीतल वाणी न ढुलका देते, तो आज विश्व का कोना-कोना लाक्षागृह की तरह ही प्रज्ज्वलित होकर भस्मसात् हो जाता।

बचपन से ही कवि के सौन्दर्यप्रिय हृदय को, प्रकृति और कला अपनी ओर खींच लेती थीं, मानो वे अपने इस सजातीय को उसी समय से पहचान गयी थीं। बाल्यकाल में वह नदी के रंग-बिरंगे पत्थरों से खेला करता था। प्रकृति के उस मनोरम सौन्दर्य-तट पर उसके कौतूहलपूर्ण हृदय में कला अज्ञात भाव से अपनी छवि बिखेर रही थी। शायद बाल्यक्रीड़ा की वही भोली स्मृति आज भी कवि की आँखों में अंकित है—

सरिता के चिकने उपलों-सी
मेरी इच्छाएँ रंगीन,
वह अजानता की सुन्दरता
वृद्ध विश्व का रूप नवीन!

—'बालापन'

दिखा भंगिमय भृकुटि-विलास
उपलों पर बहुरंगी लास,
फैलाती हो फेनिल हास
फूलों के कूलों पर चल !

—'निर्झरी'

प्रकृति रानी ने नवीन शोभा, नवीन सुषमा, नवीन मधुरिमा और नवीन मृदुलिमा से हमारे कवि के गीतों में अपने सरल सौन्दर्य का प्रसार किया है।

उसकी ऐसी कविताएँ उस वनबाला शकुन्तला की तरह मनोहर हैं, जिसका हृदय सुन्दर, स्निग्ध और स्नेहार्द्र है—जो प्रकृति के अंचल में ही खेली और खिली है, जिसकी स्निग्ध वेणी में वसन्त के समस्त सुरभित पुष्प गुँथे हुए हैं, और जो विस्मय एवं कौतूहल की आँखों से वासन्ती के वैभव को देखती है, तथा उसीमें अपनापन मिला देती है। उसकी ममता वन की लता, पुष्प, मृग, मधुकर तथा अपनी ही जैसी भोली सखियों के साथ बँधी हुई है।

यह स्वाभाविक ही था कि कवि अपने मनोरम विषय के अनुकूल ही भाषा के रूप में उसे अपने हृदय का सुन्दरतम आच्छादन प्रदान करता। पन्त ने ही प्रथम-प्रथम खड़ी बोली की खुरदरी भाषा को अधिक से अधिक स्निग्ध, सुन्दर एवं सरस रूप देने का कोमल प्रयास किया। "उनकी सहृदयता के स्पर्श से उनके शब्दों में एक अजीब जीवन आ गया है, जो किसी

तरह भी मर नहीं सकता। उनकी आत्मा साहित्य की आत्मा हो गयी है।.......हिन्दी के निष्ठुर शब्दों को वे इसीलिये इतना सरस कर सके हैं।"

भाषा की इस सौन्दर्य सृष्टि के लिये कवि के ही शब्दों में—"जिस प्रकार बड़ी चुआने से पहले उड़द की पीठी को मथकर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचों में, ढालने के पूर्व, भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्राञ्जल कर लेना पड़ता है।"—स्वयं कवि ने भी अपनी कविता के लिये ऐसी ही शब्द-साधना की है। भाषा को अर्थ के अनुरूप ठीक-ठीक शब्द देने के लिये उसने व्याकरण की लोहे की कुरूप कड़ियों में भी एक चमक ला दी है। उसने भाषा को उसके व्यवस्थापक वैयाकरणों के शासन-गृह की प्रहरी न बनाकर हृदय की सहचरी बना दिया है। वास्तव में कवि ही शब्दों को जीवन देता है, वैयाकरण नहीं। ऋतु की तरह कवि शब्द-पुष्पों को जन्म देता है; वैयाकरण वैज्ञानिकों की तरह उसका निरीक्षण एवं अनुशीलन कर एक नियम पर पहुँचते हैं। प्रकृति-सृष्टि की नित नूतनता कभी-कभी वैज्ञानिकों को भी अपने नियम में संशोधन करने को बाध्य करती है।

पन्त ने अपनी कविता में व्याकरण की कठिन कड़ियाँ तो तोड़ी ही हैं; साथ ही उन्होंने काव्य के अनुरूप भाषा को सुष्ठु रूप देने के लिये 'और' के स्थान पर 'औ' तथा यत्र-तत्र

अर्थ-द्योतक प्रान्तीय शब्दों का भी एकाध प्रयोग किया है। वे अपने स्थान पर इस प्रकार फिट हो गये हैं, जैसे उनके स्थान पर किसी दूसरे की ड्यूटी हो ही नहीं सकती। पन्त ने शब्दों का स्वतन्त्र प्रयोग पाद-पूर्त्ति के लिये नहीं किया है। वे उन पद्यकारों में नहीं हैं, जिनके कवित्त्व की इतिश्री पद-पूर्त्ति तक ही है ; 'प्रभात' को स्त्रीलिंग लिखनेवाला कवि, 'की' के बदले 'का' लिखकर सहज ही व्याकरण की रक्षा करते हुए ज्यों की त्यों मात्रा की पूर्त्ति कर सकता है ; किन्तु वह ऐसा नहीं करता। इसमें जो शब्दों के प्रति, उसकी सहृदय-दृष्टि छिपी है, इसी दृष्टि को लेकर ही वह हमारे काव्य-साहित्य में अपना मनोरम स्थान बना सका है। कवि ने 'पल्लव' की विस्तृत भूमिका में शब्द, छन्द, संगीत, अलंकार, व्याकरण, इन सभी काव्यांगों पर पर्य्याप्त प्रकाश डाला है। अतएव, इस सम्बन्ध में अपनी ओर से विशेष कहने की आवश्यकता नहीं।

पन्त के लिये एक-एक शब्द अपना एक-एक मूर्त्त रूप रखते हैं ; इसीलिये हम उनकी कविताओं में एक ही पर्य्यायवाची शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोग चित्र-गौरव के अनुरूप पाते हैं। यथा—प्रहसित, विहसित, स्मित। इसी प्रकार—पुराचीन, प्राचीन। प्रिय, प्रि'। शब्दों की उपयुक्तता, भाव के लिये उनकी स्थानापन्नता एवं सुघर मितव्ययिता पन्त के भाषा-सौष्ठव की विशेषता है। कहीं-कहीं तो एक शब्द से ही सम्पूर्ण कविता प्राणान्वित हो उठी है। इसके साथ ही सरल संक्षिप्त सामासिक पदावली एक

वाक्य में ही अनेक क्रियाओं और विशेषणों को रूप दे देती है।

यों तो पन्तजी सन् १९१५-१६ से कविताएँ लिख रहे हैं। उस समय की कविताएँ अलमोड़े से प्रकाशित होनेवाली हस्त-लिखित और मुद्रित पत्र-पत्रिकाओं में (यदि वे सुरक्षित मिल सकें तो) देखी जा सकती हैं। बाल-क्रीड़ा-वश लिखी गयीं वे कविताएँ, नवयुग के इस उत्कृष्ट युवक कवि की भाषा और भावना के सुरुचिपूर्ण-विकास के अध्ययन के लिये अच्छी सामग्री बन सकती हैं, यद्यपि 'वीणा' से भी इस उद्देश्य की पूर्त्ति हो जाती है; क्योंकि उसमें भी उस किशोर-कण्ठ की वाणी सन्निहित है।

प्रकाश्य रूप से 'सरस्वती' के गंभीर पृष्ठों पर पन्तजी का प्रथम कवि-दर्शन सन् १९१९ में मिलता है। उन दिनों पूज्यचरण द्विवेदीजी ही उसके सम्पादक थे। उन्होंने ही नवीन युग के इस नवीन कवि की 'स्वप्न' शीर्षक कविता प्रथम बार छापी थी। इसके बाद, सन् १९२३-'२४ से, हिन्दी-संसार को कवि की ज्योतिर्म्मयी प्रतिभा के दर्शन अनवरत रूप से मिलते जा रहे हैं।

सन १९१८ से '३२ तक लिखी गयीं कवि की कविताओं के चार संग्रह—'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव', 'गुंजन', प्रकाशित हो चुके हैं। 'वीणा' और 'ग्रन्थि', पन्तजी की किशोर-कृतियाँ हैं, 'पल्लव' तरुणकृति है और 'गुंजन' प्रायः प्रौढ़। जीवन के साथ-साथ कवि के हृदय में कला की भावनाओं का भी जैसे-जैसे विकास होता गया है, उसके अनुरूप ही इन कृतियों में एक की

अनुभूति और अभिव्यक्ति का क्रमिक परिचय मिलता है।

'वीणा' यद्यपि भाषा की दृष्टि से 'पल्लव' के स्टैन्डर्ड की नहीं, किन्तु वह खड़ी बोली के इस आरंभिक युग में भावों की गूढ़ता और शैली की नवीनता का श्रीगणेश करती है। अपने प्रारम्भिक कवि-जीवन में पन्त ने सरोजिनी नायडू और रवीन्द्र नाथ की कविताओं से स्फूर्ति प्राप्त की थी। इसके बाद शेली इत्यादि अंग्रेजी कवियों से। इसीलिये, उनकी कृतियों में हिन्दी की परम्परागत शैली का ही नहीं, वल्कि एक व्यापक काव्य-कला का समावेश है। भाषा और भाव की रंगीन शैली ने पूरब के काव्य क्षितिज को मानो पश्चिम के सान्ध्य वर्ण इन्द्र धनुष से अनुरञ्जित कर दिया है।

'ग्रंथि' में कवि बहुत-कुछ हिन्दी कविता की परम्परागत शैली पर चला है। उसकी पंक्तियों में आलंकारिकता और उक्ति-प्रधान है। उसकी भावुकता कालिदास के 'रघुवंश' से भी प्रभावित है। अलंकारों और उक्तियों ने कवि के नये हाथों में पड़कर बड़ी ही अनूठी छटा दिखलायी है। इस छोटे-से प्रेम-काव्य में एक विफल प्रणय तरुण-हृदय की बड़ी ही मार्मिक वेदना है, साथ ही ज्ञान विज्ञान तथा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति नव-वय का विद्रोह भी। उस सम्पूर्ण वेदना के भीतर भी कवि करुणा की एक साँस लेकर अपने ही आप में सन्तुष्ट हो जाना चाहता है—

"शैवलिनि! जाओ, मिलो तुम सिंधु से,
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन को,

चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ पवन-वीणा बजा।
पर, हृदय सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी,
भग्न भावी को डुबा दे आँखसी।"

उस मर्म्माहत हृदय ने ही 'आँसू' में कहा था—

"वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान;
उमड़कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।"

'ग्रन्थि' के बाद 'उच्छ्वास' और 'आँसू' कवि के प्रेम-काव्य हैं। इन काव्यों में 'ग्रन्थि' की अलंकार-प्रधानता नहीं, बल्कि वह इन्हीं में भावाभिव्यक्ति का नूतन स्वावलम्बी पथ लेकर प्रकट हुआ। इन काव्यों में प्रेम की भावाभिव्यक्ति होते हुए भी, वह किन्हीं प्रत्यक्ष घटनाओं पर अवलम्बित नहीं। जिस परोक्ष हार्दिक अनुभूति को लेकर कलाकार कथा-सृष्टि करता है, वही अनुभूति इन कल्पना-प्रसूत काव्यों में अन्तर्हित है। नैनीताल के एक पर्वत-प्रान्तर में किसी सरल-हृदय भोली बालिका को देखकर—("वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर")—कवि ने मानवी और प्राकृतिक सौन्दर्य का एक प्रकृत संसार 'उच्छ्वास' में निर्म्मित कर दिया है—'आँसू' उसीका उत्तरार्द्ध है।

'पल्लव' की अनेक सौंदर्यपूर्ण कविताओं के अतिरिक्त 'गुंजन' मे 'नौका-विहार', 'एक तारा' पन्त के उत्कृष्टतम प्रकृति-चित्र हैं।

जीवन के प्रारम्भिक चरणों में मानव-हृदय स्वभावतः सौंदर्य और प्रेम की कल्पनाप्रधान अभिव्यक्ति के लिये ही लालायित रहता है। उस समय उसकी रुचि अधिकतर अलंकृत रहती है। इसके बाद, ज्यों-ज्यों उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी होती जाती है, त्यों-त्यों वह आत्मरूप के चिन्तन मे निमग्न होने लगता है। 'पल्लव' और 'गुंजन' के कवि मे भी यही परिवर्तनशील प्रकृति है। 'पल्लव' की कल्पनामूलक कविताओं में जितनी ही अलंकृत छवि है, 'गुंजन' की विचारात्मक कविताओं मे शशि-कला की-सी उतनी ही निरलंकृत सरलता! 'पल्लव' में रंगीन कला की प्रधानता है। हाँ, 'गुंजन' मे भी पन्तजी उस कला का मोह नहीं छोड़ सके हैं। 'पल्लव' की अलंकृत रुचि ने, 'चाँदनी', 'अप्सरा' आदि ऐसी ही कविताओं मे उनके पूर्व कवि-रूप को प्रकट कर दिया है; परन्तु 'पल्लव' की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे कवि ने अखिल जीवन के बहिरंग और अंतरंग पर जो व्यापक दृष्टिपात किया है, 'गुंजन' में प्रायः वही अन्तर्दृष्टि जगजीवन के मर्म मे प्रवेश करने के लिये उत्कंठातुर है। यथा—

"शान्त सरोवर का उर
किस इच्छा से लहराकर
हो उठता चंचल-चंचल!
सोये वीणा के सुर

क्यों मधुर स्पर्श से मरमर
बज उठते प्रतिपल, प्रतिपल ?
आशा के लघु अंकुर
किस सुख से फड़का कर पर
फैलाते नवदल पर दल ?
मानव का मन निष्ठुर
सहसा आँसू में झर-झर
क्यों जाता पिघल-पिघल गल ?
मैं चिर उत्कंठातुर
जगती के अखिल चराचर
यों मौन मुग्ध किसके बल ?"

यह उत्कंठा, यह जिज्ञासा ही कवि को, अनजाने, आत्म-साधना के पथ पर अग्रसर कर रही है।

एक दिन निखिल विश्वछवि ने अपने मधुर आकर्षण से 'पल्लव' के कवि को मृदु मदिर कल्पनाओं में विभोर कर दिया था। आज उसी प्रकार 'गुंजन' के कवि को अखिल जगजीवन अपने अन्त स्वरूप में तन्मय कर रहा है। विश्व-सौन्दर्य ने उसे केवल भावुक बना दिया था, विश्व-जीवन ने उसे जिज्ञासु और विचारक भी बना दिया है। 'पल्लव' में कवि कहता है—

इस अनुपम, सुन्दर छबि से
मैं आज सजा लूँ निज मन,

अपलक अपार चितवन पर
अर्पण कर दूँ निज यौवन।

परन्तु 'गुंजन' में—

अधरों पर मधुर अधर धर
कहता मृदु स्वर में जीवन,
बस एक मधुर इच्छा पर
अर्पित त्रिभुवन-यौवन-धन !
पुलकों से लद जाता मन,
मुँद जाते मद से लोचन,
तत्क्षण सचेत करता मन,
ना, मुझे इष्ट है साधन !
इच्छा है जग का जीवन,
पर साधन आत्मा का धन।
जीवन की इच्छा है छल,
इच्छा जीवन का जीवन।

इन पंक्तियों मे कवि वर्तमान आन्तरिक प्रगति का स्रोत है। भविष्य में कवि की काव्यमयी भावनाएँ किस दिशा की ओर अग्रसर होंगी, संभवतः उक्त पंक्तियों से इसका कुछ-कुछ अनुमान हो सकता है।

कवि की सम्पूर्ण कृतियों में 'गुञ्जन' की कविताएँ ही अपनी दार्शनिक गूढ़ता के कारण अपने स्पष्टीकरण के लिये अधिक स्थान चाहती हैं।

'गुञ्जन' की जीवन-सम्बन्धी कविताओं के मर्म में पहुँचने के लिये हमें 'ज्योत्स्ना' के क्षीर-सागर में अवगाहन करना होगा। 'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना' दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, दोनों एक दूसरे को समझने की कुंजी हैं। गुञ्जन की कविताओं में कवि ने जो कुछ कहना चाहा है, उसे ही मानों "ज्योत्स्ना" में दृश्यात्मक कर दिया है।

इस कठोर भौतिक युग के प्रतिकार के लिये 'ज्योत्स्ना' कहती है—"मनुष्य को यथार्थ प्रकाश की आवश्यकता है। इस अनादि और अनन्त जीवन पर अनन्त दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला जा सकता है। ज्ञान-विज्ञान से मनुष्य की अभिवृद्धि हो सकती है; विकास नहीं हो सकता। सरल सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य-जाति सुख-शांति का उपभोग कर सकती है, पशु से देवता बन सकती है" यही बात कवि ने 'गुञ्जन' में यों कही है—

सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से चलता उर का मृदु स्पन्दन !

'ज्योत्स्ना' में कल्पना कहती है—"संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दुखों से जर्जर होकर, मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल बाह्य प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति पाने की ओर लगी है। जिसके लिये उसने भूत-विज्ञान की सृष्टि की है। मानव-जीवन के बाह्य क्षेत्रों एवं विभागों को संगठित एवं सीमित कर, अपने आन्तरिक जीवन के लिये

अपलक अपार चितवन पर
अर्पण कर दूँ निज यौवन।

परन्तु 'गुंजन' में—

अधरों पर मधुर अधर धर
कहता मृदु स्वर में जीवन,
बस एक मधुर इच्छा पर
अर्पित त्रिभुवन-यौवन-धन !
पुलकों से लद जाता मन,
मुँद जाते मद से लोचन,
तत्क्षण सचेत करता मन,
ना, मुझे इष्ट है साधन !
इच्छा है जग का जीवन,
पर साधन आत्मा का धन।
जीवन की इच्छा है छल,
इच्छा जीवन का जीवन।

इन पंक्तियों में कवि वर्तमान आन्तरिक प्रगति का स्रोत है। भविष्य में कवि की काव्यमयी भावनाएँ किस दिशा की ओर अग्रसर होंगी, संभवत: उक्त पंक्तियों से इसका कुछ-कुछ अनुमान हो सकता है।

कवि की सम्पूर्ण कृतियों में 'गुञ्जन' की कविताएँ ही अपनी दार्शनिक गूढ़ता के कारण अपने स्पष्टीकरण के लिये अधिक स्थान चाहती हैं।

'गुञ्जन' की जीवन-सम्बन्धी कविताओं के मर्म में पहुँचने के लिये हमें 'ज्योत्स्ना' के क्षीर-सागर में अवगाहन करना होगा। 'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना' दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, दोनों एक दूसरे को समझने की कुंजी हैं। गुञ्जन की कविताओं में कवि ने जो कुछ कहना चाहा है, उसे ही मानों "ज्योत्स्ना" में रूपात्मक कर दिया है।

इस कठोर भौतिक युग के प्रतिकार के लिये 'ज्योत्स्ना' कहती है—"मनुष्य को यथार्थ प्रकाश की आवश्यकता है। इस अनादि और अनन्त जीवन पर अनन्त दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला जा सकता है। ज्ञान-विज्ञान से मनुष्य की अभिवृद्धि हो सकती है; विकास नहीं हो सकता। सरल सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य-जाति सुख-शांति का उपभोग कर सकती है, पशु से देवता बन सकती है" यही बात कवि ने 'गुञ्जन' में यों कही है—

> सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन,
> ज्यों सहज-सहज साँसों से चलता उर का मृदु स्पन्दन !

'ज्योत्स्ना' में कल्पना कहती है—"संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दुखों से जर्जर होकर, मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल बाह्य प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति पाने की ओर लगी है। जिसके लिये उसने भूत-विज्ञान की सृष्टि की है। मानव-जीवन के बाह्य क्षेत्रों एवं विभागों को संगठित एवं सीमित कर, अपने आन्तरिक जीवन के लिये

उदासीन होकर, मनुष्य अपनी आत्मा के लिये नवीन कारा निर्मित कर रहा है।"

'गुञ्जन' के कवि की दृष्टि से वह 'आन्तरिक जीवन' क्या है?—

"आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता,
जल जल है, लहर लहर रे
गति गति, सृति सृति चिरभरिता।
अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य, चिरन्तन!
सुख दुख से ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलम्बन!

जीवन को इस सूक्ष्म दृष्टि से ग्रहण करके ही कवि निश्चिन्तता-पूर्वक कहता है—

जीवन की लहर-लहर से
हँस खेल-खेल रे नाविक!
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक!

आत्मचिंतन-पूर्वक जीवन के गम्भीर अन्तस्तल में निमग्न हो जाने पर जीवन की प्रत्येक परिस्थितियाँ छोटी-बड़ी लहरों की तरह ही प्रिय हो जाती हैं।

जीवन के अन्तस्तल में पैठने का यही निर्देश एक बुद्बुद भी दे जाता है—

"कँप-कँप हिलोर रह जाती
रे, मिलता नहीं किनारा,
बुद्बुद विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा।"

जीवन के अन्तस्तल में बूड़ना 'ज्योत्स्ना' के लेखक के 'आन्तरिक जीवन' को प्राप्त करना है—जो कि सुख-दुःख से ऊपर मन का एकमात्र अवलम्बन है। जो आन्तरिक जीवन में डूब चुका है, वही 'गुंजन' के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकता है—

"यह जीवन का है सागर,
जग जीवन का है सागर
प्रिय प्रिय विषाद रे इसका
'प्रिय प्रिय' आह्लाद रे इसका।"

'ज्योत्स्ना' के कुमार के शब्दों में—"हम जीवन को सार-रूप में ग्रहण कर सकते हैं संसार रूप में नहीं।"

जीवन को सार-रूप में ग्रहण करने पर यही संसार स्वर्ग हो जाता है, यही मानव देवता। 'ज्योत्स्ना' का ही एक गीत—

"न्योछावर स्वर्ग इसी भूपर
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाँहों में
है मुक्ति यही जीवन-बन्धन!

बन्धनों में ही 'विदेह की तरह' निर्मुक्त रहने में जीवन का सौन्दर्य्य है। जीवन को इसी निर्लिप्त दृष्टि से देखकर ही कवि ने 'गुंजन' में गाया है—

"सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन।"

और भी— "मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक-स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्षों का;
लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन, उन्मन !
जग-जीवन में उल्लास मुझे,
नव-आशा, नव-अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे,
चाहिये विश्व को नवजीवन,
मैं आकुल रे उन्मन, उन्मन !"

इन भावनाओं में पंतजी एक आदर्शवादी कलाकार हैं। परन्तु, उनके आदर्श और 'नवजीवन' का स्वरूप परम्परागत नहीं, 'ज्योत्स्ना' के शब्दों में—

"आदर्श चिरन्तन अनुभूतियों की अमर प्रतिमाएँ हैं। वे तार्किक सत्य नहीं, अनुभावित सत्य हैं। आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखने से उनका मूल्य नहीं आँका जा सकता, उन्हें निरपेक्षतः मान लेने पर ही मनुष्य उनकी आत्मा तक पहुँच सकता है। निरपेक्ष सत्य शून्य नहीं, वह सर्व है। प्रत्येक वस्तु का निरपेक्ष

मूल्य भी है। आदर्श व्यक्ति के लिये असीम हैं। देश, काल, समाज आदर्श की सीमाएँ हैं, सार नहीं; उनके इतिहास हैं, तत्व नहीं।" इन शब्दों-द्वारा लेखक, देश-काल की रूढ़ियों में जकड़े हुए आदर्शों को आदर्श नहीं मानता। उसका आदर्श तो विश्व-जीवन को देश-काल से परे उठाकर एक में मिला देनेवाला है।

"आदर्श स्वभाव के अनुरूप चलते हैं।" इसीलिये, 'ज्योत्स्ना' में हेनरी कहता है—"प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग (Positive, Negative Attitudes) सदैव ही रहेंगे, दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सार्थक हैं, पहला भोक्ता के लिये, दूसरा द्रष्टा के लिये, जिसे ज्ञान प्राप्त करना है।"

कवि ने 'ज्योत्स्ना' में नवजीवन का जो स्वप्न देखा है, वह यह कि—"संसार से यह तामसी विनाश उठ जाय और यह सृष्टि प्रेम की पलकों में, अपने ही स्वरूप पर मुग्ध, सौन्दर्य्य का स्वप्न बन जाय !" क्योंकर ?—'ज्योत्स्ना' के वेदव्रत के शब्दों में —"पाश्चात्य जड़वाद की मांसल-प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि पंजर में भूत या जड़विज्ञान के रूप-रंग भर हमने नवीन युग की सापेक्षतः परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया।" और "इसीलिये इस युग ('ज्योत्स्ना' में निर्दिष्ट भावी युग) का मनुष्य न पूर्व का रह गया है, न पश्चिम का रह गया है, पूर्व और पश्चिम दोनों ही मनुष्य के बन गये हैं।" अपने इन्हीं विचारों को पन्त ने इधर प्रकाशित अपने 'युगान्त' और 'युगवाणी' में काव्य रूप दिया है। यह

यथार्थ और आदर्श अथवा वस्तु-जगत और काव्य-जगत के एकीकरण का प्रयत्न है।

'ज्योत्स्ना' के रूपक में पन्तजी ने हिन्दी-संसार को जो भाव और विचार भेंट किये हैं, वे कवि-कल्पना की भाँति मनोहर तथा दार्शनिकता की भाँति गहन हैं। 'ज्योत्स्ना' को हम भावों और विचारों की एक डिक्शनरी कह सकते हैं, जिसमें से एक-एक सूत्र लेकर बहुत-कुछ सोचा-समझा जा सकता है—व्यक्ति, समाज, देश और जीवन एवं कला के सम्बन्ध में उसमें मननयोग्य उपकरण हैं।

'ज्योत्स्ना' की लेखन-शैली बिलकुल नये ढंग की है। हिन्दी में अब तक जिस पद्धति पर नाटक और रूपक लिखे गये हैं, उससे यह भिन्न है। इसमें पूर्व और पश्चिम की नाट्यकला का स्वतंत्र एकीकरण है।

इसको देखने पर ज्ञान हो जाता है कि पन्तजी न केवल भावना-लोक में ही रहते हैं, बल्कि प्रत्यक्ष विश्व की गहन समस्याओं मे भी विचार-मग्न हैं। कविता की सरिता में सन्तरण करने के बाद सैकत के सूखे तट पर खड़े होकर वे इस संसार को देखना भी नहीं भूलते। यह एक कवि का काव्यमय रूपक है, रूपकमय काव्य है। यह एक दार्शनिक कवि की 'यूटोपिया' है। हम इसे दृश्य, गीत, भाव और विचार की दृष्टि से ग्रहण कर सकते हैं।

'ज्योत्स्ना' के दृश्य—जिनका उसमें विस्तृत निर्देश है—पन्त जी की चित्र निपुणता को भी प्रकट करते हैं। उनमें उनकी सूक्ष्म-

दर्शिता और सूक्ष्मग्राहिता का दिव्य परिचय मिलता है। अपनी लेखनी की भाँति ही यदि वे तूलिका का भी संचालन कर सकते तो कवि के साथ ही निस्संदेह हम उन्हें एक उच्चकोटि के चित्रकार के रूप में भी देख पाते।

सम्राज्ञी ज्योत्स्ना के रूप में लेखक ने, अखिल व्याप्त, 'प्रेम-पूर्ण उज्ज्वल विश्वात्मा को प्रतिफलित किया है। मानवविश्व, अपने सम्पूर्ण भेद-भावों को भुलाकर आत्मा के स्नेह-साम्राज्य में अपने को नियंत्रित कर सके तो वह उस आनन्दमय वातावरण को प्राप्त कर सकता है, जिसे ज्योत्स्ना की सुखद शीतल छाया में पाकर अखिल सृष्टि एक साथ ही उद्भासित हो उठती है। मानव-हृदय की सरल सद्वृत्तियाँ, प्रकृति की कल्याणमयी विभूतियों की भाँति क्रियाशील होकर ही विश्वजीवन को सुख-शांतिमय बना सकती हैं। सुरभि, पवन, उषा, अरुण, किरण, छाया, तारा, ओस, जुगुनू, भृंग, कुसुम, लहर, तितली—ये सब प्रकृति की कल्याणमयी विभूतियाँ हैं। इनके द्वारा बाह्य विश्व में जो सुख, सौन्दर्य और प्रेम ओत-प्रोत हैं, वही हमारी सरल सद्वृत्तियों द्वारा हमें अपने मनःस्वर्ग में भी उपलब्ध हो सकते हैं। स्वप्न और कल्पना हमारे इस मन-स्वर्ग के सहायक हैं, ये दोनों मानव-हृदय में सृजन और पालन-शक्तियों का उद्भव करते हैं। विश्व में जो कुछ सत्यं-शिवं-सुन्दरं है, वह कल्पना और स्वप्न के रूप में हमारे मनोलोक में अन्तर्हित है।' वही जब क्रिया-रूप में बाहर आ जाता है तब हम उसे प्रत्यक्ष देखने लगते हैं। संसार अपने मन

के भीतर से ही सुखी और सुंदर बनेगा, बाहर से नहीं,—यही 'ज्योत्स्ना' का प्रतिपादित विषय है।

'ज्योत्स्ना' पन्तजी के कवि-हृदय का प्रथम नाट्योपहार है। कदाचित इसीलिये वह भाव एवं विचार-प्रधान है। आशा है, पन्तजी की अगली नाट्यकृतियों में जीवन के दुर्द्धर्ष घात-प्रतिघातों के भीतर से 'ज्योत्स्ना' की विचारानुभूतियों का सक्रिय परिचय मिलेगा। 'ज्योत्स्ना' के विचारात्मक वाक्य बहुत लम्बे-लम्बे तथा गुरु गहन हो गये हैं। संभवतः इसका कारण विषय की निगूढ़ता है। पन्तजी गद्य भी बहुत सुन्दर लिखते हैं। 'पल्लव' का 'प्रवेश' इसका उदाहरण है—चित्रोपम ललित प्रवाहपूर्ण प्राञ्जल भाषा, हिन्दी की गद्य-शैली के विकास में उनकी एक स्वतन्त्र विशेषता रखती है।

'परिवर्त्तन' में पन्त के दार्शनिक भावों और विचारों का प्रथम रूप है, 'गुंजन' में प्रस्फुटित रूप। 'परिवर्त्तन' में यत्र-तत्र रवीन्द्र-नाथ का भाव-पक्ष और विवेकानन्द का विचार-पक्ष सम्मिलित है। 'गुंजन' में उनकी अपनी ही चिन्तनशील आत्मा का प्रतिबिंब है। 'गुंजन' की नयी कविताओं में—(पहले की किसी कविता को छोड़कर) पन्तजी एक दार्शनिक हैं। परन्तु, 'परिवर्त्तन' में दार्शनिक के साथ ही कवि और चित्रकार भी।

'परिवर्त्तन' में पन्तजी की काव्य-कला-सम्बन्धी सम्पूर्ण विशेषताओं का एकत्र परिचय मिल जाता है। हृदय के विभिन्न रसों के अनुरूप भावनाएँ, भावनाओं के अनुरूप छंद, छंदों के अनुरूप शब्द-योजना, पन्तजी की अपनी विशेषताएँ हैं; और

खड़ी बोली की कविता में वे इन विशेषताओं के प्रथम कवि हैं। उनकी अन्य कविताओं में हम केवल एक रस से ही परिचित हो पाते हैं; परंतु 'परिवर्त्तन' में अनेक रसों से। सुकुमार कल्पनाओं के कवि पन्तजी, 'परिवर्त्तन' में पौरुषमय हो उठे हैं। जहाँ काल की क्रूर लीलाओं का निर्देश है, वहाँ उनकी कोमलांगिनी प्रतिभा के भैरवी-रूप का भी दर्शन मिलता है—मानों नन्दनवन-विहारिणी देवांगना महाकाल के रंगमंच पर अवतीर्ण होकर वीरांगना बन गयी हो। इससे जान पड़ता है, पन्तजी केवल कोमल रसों के ही कवि नहीं, प्रसंगानुसार वे रौद्र, वीर, भयानक रसों का उद्रेक भी भली भाँति कर सकते हैं। इन भीषण रसों के कारण ही, 'परिवर्त्तन' में करुणा का कारुण्य और भी प्रस्फुटित हो उठा है। निस्सन्देह पन्तजी एक परिपूर्ण कवि हैं—उनकी लेखनी में यदि बूँदों की सहज सजलता है तो उसीमें वाड़व का दाह भी।

जो लोग पन्त के 'पल्लव' की कोमल-पद-माधुरी से परिचित हैं, उन्हें पन्त के 'युगान्त' और 'युगवाणी' में उस मधुरता का न मिलना एक जिज्ञासा का कारण होना चाहिये। आज संसार की स्थिति क्या है?—अत्याचार और हाहाकार। अतः 'पल्लव' के उस मधुरतम कवि का 'गुञ्जन' में यह कहना स्वाभाविक ही है—

'अपने मधु में लिपटा, पर, कर सकता मधुप न गुञ्जन।'

क्योंकि—

'करुणा से भारी अन्तर खो देता जीवन-कम्पन।'

फिर भी—

हँसमुख से ही जीवन का पर हो सकता अभिवादन।'

यही प्रसन्न मुद्रा हम पन्त के बहिर्व्यक्तित्व में पाते हैं। पन्त के अतल में तो लोकमन्थन की हलचल है, बाहर उर्मि-उल्लास। यही उर्मि-उल्लास पन्त की पिछली कृतियों में है। किन्तु भीतर की कितनी उथल-पुथल में पन्त का कृतित्व हमारे अनजाने अब परिवर्तित हो गया है, यह हमारी मनोवैज्ञानिक-सहृदयता के ग्रहण करने की वस्तु है।

पन्त का व्यक्तित्व, पूर्ण संस्कृत तथा शालीन है। उनका सङ्गीतमय सुमधुर स्वर, निर्विकार दृष्टि-निक्षेप, सौजन्य, विनम्र और निश्छल वार्तालाप, चिर मोह के प्रबल बन्धन हैं। दो श्रेष्ठ गुण पूर्ण मनुष्यत्व के हैं—आत्मविश्वास और निरभिमानता। साथ ही वे दूसरों के स्वाभिमान का सम्मान करते हैं। यही नहीं, उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि में व्यक्तियों के अन्तस्तल तक पहुँचने की सुन्दर क्षमता है।

दैनिक जीवन में वे अपने मन पर उतना ही बोझ रखना चाहते हैं, जितने से स्वस्थ रहकर जीवन को जीवन बनाये रह सकें। कवि के साथ ही आप सुललित गायक और मनोहर वाद्यकार भी हैं, यद्यपि युग के कठोर गद्य ने उनका गायन-वादन अब भविष्य के किसी अन्य कवि-कण्ठ के लिये एक स्वप्न बना दिया है। जन्मकाल सन् १६००।

सुभद्राकुमारी चौहान

"थीं मेरा आदर्श बालपन से तुम मानिनि राधे!
तुम-सी बन जाने को मैंने व्रत नियमादिक साधे।
अपने को माना करती थी मैं वृषभानु-किशोरी,
भाव-गगन के कृष्णचन्द्र की थी मैं चतुर चकोरी।"

सुश्री सुभद्राकुमारी की कवितामयी राधा का शृंगार, प्रेम और करुणा के सजल मोतियों से हुआ है—उसकी एक दृष्टि में प्रणय का मधु है, दूसरे में सन्तप्तदेश के आँसू। एक ओर उनके प्रणय की उन्मादिनी दृष्टि कहती है—

"मुझे बता दो मानिनि राधे!
प्रीति-रीति यह न्यारी—
क्योंकर थी उस मनमोहन पर
अविचल भक्ति तुम्हारी!"

अथवा—

"सूनी भाव उठें उसके प्रति जो हो प्रिय का प्यारा,
उसके लिये हृदय यह मेरा बन जाता है हत्यारा।"

तो दूसरी ओर दीन-दुखियों के सुख-दुख से द्रवीभूत आँखें कहती हैं—

समाप्त हो गई। हाँ, सुभद्रा में एक हार्दिक स्वाभाविकता अवश्य है, इसी कारण उसका भावोन्मुख पद्य यत्र-तत्र मनोरम हो गया है।

इधर आप बच्चों की कविताएँ लिख रही हैं, जिससे आपके वात्सल्य का परिचय मिलता है।

आपको कविता-क्षेत्र में लाने का श्रेय, हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' को है।

जन्म सं० १९६१ में प्रयाग में हुआ।

महादेवी वर्म्मा

"इस अचल क्षितिज-रेखा-से
तुम रहो निकट जीवन के,
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके।"

—रश्मि

स्त्री-कवियित्रियों में श्रीमती महादेवी वर्म्मा का स्थान नवीन हिन्दी-कविता-क्षेत्र में प्रथम है। सन्ध्या के आकाश में जिस प्रकार एक तारिका के उदित होते ही क्रमशः अन्य तारिकाओं के दर्शन होने लगते हैं, उसी प्रकार महादेवीजी के बाद अन्य कवियित्रियों के भी दर्शन मिलते जा रहे हैं।

सुश्री वर्मा की कविताओं के चार संग्रह क्रमागत ये हैं—(१) नीहार, (२) रश्मि, (३) नीरजा, (४) सान्ध्यगीत। हाल में इन चारों कविता-पुस्तकों का एकत्र संग्रह 'यामा' नाम से प्रकाशित हुआ है, हिन्दी में एक नवीन मुद्रण-विन्यास के साथ।

कवि पन्तजी के शब्दों में—'नीहार' की कवि वस्तु-जगत की अनुभूति नहीं रखतीं, भावना-द्वारा ही वे वस्तुओं को परखती हैं। मेघ-मरुत, पुष्प-लहर आदि सभी इस जगत के उपकरण

मनोवेगों से रंजित होकर उनके सामने आते हैं, मनोराग की आँखों से ही वे उसकी कल्पना करती हैं; इसलिये उनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति में काल्पनिक छाया-रूपों की अस्पष्टता वर्तमान है।"

ऐसे अस्पष्ट कविता-चित्रों के सम्बन्ध में रवि बाबू ने एक स्थान पर लिखा है—"हमने अपने समस्त जीवन में क्या देखा, क्या समझा, क्या पाया—हम इसे समस्त रूप से स्पष्टतया नहीं बता सकते। कवि लोग भी सम्पूर्णतया बतला सकते हैं, सो बात नहीं है। उनकी भी समस्त वाणी स्पष्ट नहीं होती, सत्य नहीं होती, सुन्दर नहीं होती। अपनी प्रकृति के गूढ़ तात्पर्य को सम्पूर्णतया प्रकाशित करने में उनका प्रयत्न भी हमेशा सफल नहीं होता। किन्तु, जहाँ उनकी चेष्टाओं का अवसान हो जाता है, वहाँ उनसे भी अलक्षित भाव से एक विश्वव्यापी गूढ़ चेष्टा की प्रेरणा से समस्त बाधाओं और स्पष्टताओं के बीच में से एक मानस रूप, जिसको 'हम पकड़ने की चेष्टा करते हैं, किन्तु पकड़ नहीं पाते'—स्वयमेव कभी अल्प मात्रा में, कभी अधिक मात्रा में प्रकाशित हुआ करता है।"

महादेवीजी ने भी अपनी भावनाओं में ऐसे ही मानस-रूप को पकड़ने की चेष्टा की है; किन्तु वह इस चेष्टा के परे है; इसीलिये कवि के हृदय में विकलता है—

"मैं फूलों में रोती, वे बालारुण में मुस्काते,
मैं पथ में बिछ जाती हूँ, वे सौरभ में उड़ जाते।"

इसी भाँति—

"वे आँसू बनकर मेरे इस कारण ढुल-ढुल जाते,
इन पलकों के बन्धन में मैं बाँध-बाँध पछताऊँ।
मेघों में विद्युत-सी छवि उनकी बनकर मिट जाती,
आँखों की चित्रपटी में जिसमें मैं आँक न पाऊँ।
वे तारक-बालाओं की अपलक चितवन बन आते,
जिसमें उनकी छाया भी मैं छू न सकूँ, अकुलाऊँ।
सोते, सागर की धड़कन बन लहरों की थपकी से,
अपनी यह करुण-कहानी जिसमें उनको न सुनाऊँ।
वे आभा बन खो जाते शशि-किरणों की उलझन में,
जिसमें उनको कन-कन में देखूँ पहचान न पाऊँ।
वे चुपके से मानस में आ छिपते उच्छ्वासें बन,
जिसमें उनको साँसों में, ढूँढूँ पर रोक न पाऊँ।
वे स्मृति बनकर प्राणों में खटका करते हैं निशि-दिन,
उनकी इस निष्ठुरता को जिसमें मैं भूल न जाऊँ।"

यह अदृश्य अस्पृश्य मानस-रूप ही उनकी आत्मा का प्रियतम परमात्मा है; अपनी कविता में सर्वत्र उन्होंने उसीके प्रति आत्म-निवेदन किया है। उसीकी सजल स्मृति से पूर्ण आनन्द तथा हास उन्होंने अपने प्राणों में तथा प्रकृति की प्रत्येक दिशा में देखा है।

अपने प्रारम्भिक कवि-जीवन में आपने सामाजिक और राष्ट्रीय कविताएँ भी लिखी थीं; किन्तु आपकी प्रतिभा वहीं

तक सीमित नहीं रही। इसके बाद की कविताएँ कल्पना-प्रधान हो गयीं। वस्तु-जगत को भावनाओं की जहाँ समाप्ति हो जाती है, उसके आगे की भावनाएँ महादेवीजी की कविताओं में हैं। क्या कवि के उस काल्पनिक जगत का हमारे जीवन में कोई ... है? दिल्ली के कवि-सम्मेलन में सभानेत्री के पद से ...देवीजी ने कहा था—"कवि के पास एक व्यावहारिक बाह्य संसार है, दूसरा कल्पना-निर्मित आंतरिक। परन्तु, वे दोनों परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूर्ति करते रहते हैं। एक कल्पना पर यथार्थता का रंग चढ़ाकर उसमें जीवन डालता रहता है, तो दूसरा वास्तविकता की कुरूपता पर अपनी सुनहली किरणें डालकर उसे चमका देता है।"

सुश्री वर्म्मा की कविताओं में एक दार्शनिक अभिव्यक्ति है; किन्तु यह अभिव्यक्ति पूर्णतः भावमय है। यही कारण है कि वह पाठकों के हृदय को रसात्मक मालूम पड़ती है। उसमें कबीर की आध्यात्मिकता का भाव-पक्ष आधुनिक छन्दों और आधुनिक शब्दों में व्यक्त है। हाँ, उसमें मीरा का संगीत भी है। कबीर की निर्गुण भावना में उन्होंने मीरा के माधुर्य्य-युक्त सगुण भाव का समावेश कर दिया है।

यों कहें, महादेवी की कविता सूफी भावना के ढंग पर सांसारिक प्रणय के रूपक में आध्यात्मिक जीवन का ताना-बाना बुनती है। उसके लिये "जब कभी यह दृश्य जगत अव्यक्त (परमात्मा) से वियुक्त होता है, तब वियोग के कितने ही व्यापक और

रमणीय दृश्य दिखाई पड़ते हैं। जब कभी इसका उसके साथ संयोग होता है, तब सारी प्रकृति मानो आनन्दोल्लास से नाच उठती है।"

हम लोग जिस प्रकार अपने विपाक्त दुख को भी एक मधुर गान का रूप दे देते हैं, उसी प्रकार महादेवी ने भी अपने हृदय की व्यथाओं को कहीं-कहीं भाषा की रंगीन साड़ी पहना दी है, मानो पावस की नीलिमा को इन्द्रधनुष से शोभित कर दिया है। यदि वे ऐसा न करतीं तो उनकी व्यथाओं में सौन्दर्य नहीं रह जाता; उनका गाना केवल क्रन्दन-मात्र हो जाता।

एक बार मैंने कवि से कहा था—'आपकी कविता तितली के बहुरंगी पंखों की तरह रंगीन जान पड़ती है, उसके पंख ओस के आँसुओं से भींगे हुए हैं।' कवि ने हँसकर कहा—'मुझे तितलियाँ बहुत प्यारी हैं भी।' 'रश्मि' में कवि की ये पंक्तियाँ दीख भी पड़ीं—

"पलकों से पलकों पर उड़कर
तितली-सी अम्लान।
निद्रित जग पर बुन देती हो
लय का एक वितान॥"

ऐसी है उनकी कविता, जो तितली-सी रंगीन भाषा में अमूर्त्त 'लय' को भी मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न करती है। जापानी चित्रकारों की तरह उन्हें भी रंगों से बहुत प्रेम जान पड़ता है। उनका स्वभाव बहुत ही हँसमुख है, जो कि उनकी रुचि के

अनुकूल ही है। संगीत में टेक की तरह वे अपने वार्तालाप के प्रवाह को हास्य से मनोरंजक बना देती हैं। व्यक्तित्व की इस दिशा में आप का कवि पन्त से कुछ साम्य है। अन्तर यह है कि पन्त ने पार्थिव जीवन के मन्थन से ओठों पर उर्मिल-उल्लास लिया है, महादेवी ने आध्यात्मिक जीवन के मन्थन से। साथ ही पन्त के हँसमुख होने में एक शिष्टाचारिता (फार्मेल्टी) है, तो महादेवी में आत्म-विभोरता।

महादेवी की कविताएँ पूर्णतः मिस्टिक हैं। उनमें इस वस्तु-जगत के रूप रंग और चित्र तो अवश्य हैं; परन्तु वे उनकी मूल भावनाओं को व्यक्त करने के साधन एवं सङ्केत-मात्र हैं।

द्विवेदी-युग से छायावाद-काल तक की कविता के सारभूत कवि हैं—पन्त और महादेवी। पन्त ने सौन्दर्य को, महादेवी ने वेदना को जो श्रेष्ठतम कवित्व दे दिया है वह खड़ी-बोली के अब तक के काव्य में एकच्छत्र है।

जन्म सं० १९६२ में इन्दौर में हुआ। सन् १९३२ में प्रयाग यूनिवर्सिटी से आपने एम० ए० पास किया। गंभीर अध्ययन और मनन की आप विशेष पक्षपाती हैं। व्यक्तियों के अध्ययन में आपकी सूझ का मनोवैज्ञानिक परिचय मिलता है। इन दिनों प्रयाग-महिला-विद्यापीठ में प्रिन्सपल हैं। साहित्यिक जीवन में कविता और प्रत्यक्ष जीवन में करुणा (दुःखपूर्ण कविताओं की प्रतिध्वनि) आपका ध्येय है। चित्र-कला आपकी 'हाबी' है। शेली आपका प्रिय कवि है।

विज्ञप्ति

पुस्तक पढ़ने के पहले कृपया इस भाँति सुधार लें—

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	संशोधित
२८	११	पढ़ती हैं	पढ़ती है
३३	११	वहाँ पर	यहाँ पर
३३	१६	नहीं करते	यहीं करते
३६	११	मैनोवैज्ञानिक	मनोवैज्ञानिक
४३	५	दिन्दी	हिन्दी
४६	४	पुन-पुनः	पुनः पुनः
४६	२	कहकर	न कहकर
६०	१	वे नहीं	द्वारा नहीं
७५	८	कत्ता	कथा
७७	६	संग्रह है,	संग्रह है।
७७	६	जा चुका है।	जा चुका है,
८३	१५	अन्य	अन्यान्य
८५	१२	के तपे	में तपे
६२	१८	के	ने
६४	३	वनी छाँह	घनी छाँह
६७	१८	तो आजकल	जो आजकल
१०२	१	पम्त	पन्त

१०२	२	म	मी
१०२	५	निगार	निगार
१०६	२२	कवितार	कविता
१२०	२०	प्राण	प्राण
१२१	७	बाकी नाटकों	नाटकों
१२३	१	मृत्यु के बाद	मृत्यु के बाद।
१२७	१८	भीति	भित्ति
१३३	३	प्रकृति	प्रकृत
१३६	१३	उड़ा दी थीं।	उड़ा दी थीं ;
१३७	२०	उपन्यास	उपन्यासों
१३८	२	उसके उद्‌गार	उसमें उद्‌गार
१४०	६	दुख-दुख	सुख-दुख
१४५	७	आधुनिक दै	आधुनिक है
१५१	१७	आमोघ	अमोघ
१५३	१३	कोटी	कोटि
१५६	१३	तरता	उतरता
१६१	२	में भी—	में भी।
१७५	२२	एक की	पन्त जी की
१७६	२२	गमन को	गगन को
१८०	१६	कवि वर्तमान	कवि की वर्तमान
१८३	१४	'प्रिय प्रिय'	प्रिय प्रि'
१८७	२१	किया-रूप	क्रिया-रूप